UNIVERSAL LIBRARY
OU_182309
UNIVERSAL LIBRARY

OUP--881—5-8-71—15,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83/A 81B Accession No. H 2399

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below

बड़ी-बड़ी आँखें

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता ५, खुसरू बाग रोड, इलाहाबाद, १

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन
५, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद

मूल्य ३॥)

Checked 1969

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

नाम में क्या रखा है,

तुम मानो कि यह तुम्हींको समर्पित है ।

"....But I am not simply a landscape painter, I am also a citizen. I feel that if I am a writer, I am duty bound to write of the People, of their sufferings and of their future...."

—*Trigorin in Chekhov's 'Sea-Gull'*

प्रकाशकीय

बड़ी बड़ी आँखे—अश्क जी ने मार्च १९५४ मे समाप्त किया था, किन्तु पहले उसका संक्षिप्त संस्करण आल इंडिया रेडियो से ब्राडकास्ट हुआ, फिर यह साप्ताहिक हिन्दुस्तान (दिल्ली) मे धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ और उसे तत्काल प्रेस मे न दिया जा सका।

फिर जब हिन्दुस्तान मे छप चुकने के बाद अश्क जी ने उपन्यास को प्रेस मे देने के लिए साप्ताहिक की फाइल उठायी तो उन्होंने पाया कि सम्पादकों ने अपने हिन्दी प्रेम मे उपन्यास की सूरत ही बिगाड दी है। अश्क जी सीधी-सादी भाषा लिखते है, उर्दू अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों से उन्हे घृणा नही, फिर जहाँ जो शब्द प्रचलित है, वहाँ वही रखना वे पसन्द करते है, पर 'हिन्दुस्तान' के सम्पादकों ने 'डाइनिंग हाल' की जगह 'भोजनकक्ष', 'कम्युनिटी किचन' की जगह 'साझे की रसोई' और 'रविश' की जगह 'रौस इत्यादि बेशुमार तब्दीलियाँ कर दी, यहा तक कि मुहावरे और वाक्य के वाक्य बदल डाले; वचन देने के बावजूद, कई बार लिखने पर भी, असल मसौदा वापस न किया और अश्क जी को सारे का सारा उपन्यास लगभग फिर लिखना पडा। इसी कारण इसे छपने मे इतनी देर हो गयी।

इसी बीच रेडियो के श्रोताओं और हिन्दुस्तान के पाठकों की ओर से बीसियो पत्र लेखक के पास आये। अपने देश मे प्राय लेखक और पाठक मे पत्र-व्यवहार का प्रचलन नही। **'बड़ी-बड़ी आँखें'** की प्रशसा मे इतने पत्रों का आना इसकी लोकप्रियता का द्योतक है।

जी सा होता है कि पाठकों के आभार-स्वरूप हम सभी पत्र यहाँ दें, पर वैसा सम्भव नहीं। तो भी एक पत्र को देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। लखनऊ से श्री केश लिखते हैं

> "अभी-अभी उस सप्ताह के हिन्दुस्तान में प्रकाशित आपके उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' का अन्तिम परिच्छेद समाप्त किया है और पहली बार आपके विचारों, भावना और जीवन-दर्शन को समझ पाया हूँ।
>
> मैं आपको लिख रहा हूँ, न तो किसी आलोचना के दृष्टिकोण से, न किसी और कारण से। यह तो दिल की राह है, जो आलोचना से बहुत परे है।
>
> दिल चाह रहा है लिखूँ—बस इसलिए लिख रहा हूँ। सच-सच इस उपन्यास ने मन पर उतना ही प्रभाव डाला है जितना तुर्गनेव के 'नेस्ट आफ दि जेन्ट्री' ने पढ़ने पर। आपकी भोली-भाली फूल जैसी सुकुमार वाणी तुर्गनेव की लीजा जैसी है और खलील जबरान की सलमा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। कालिदास ने नारी की तुलना फूल से की थी और मुझे ऐसा लग रहा है कि आपने भी उसी फूल के विमल सौन्दर्य की सोलह वर्षीय साध का चित्रण अपने इस उपन्यास में किया है।"

'सितारों के खेल', 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' के बाद अश्कजी का यह चौथा उपन्यास है। पिछले दो उपन्यासों की अपेक्षा कलेवर में यह लघु सही, पर वस्तु की गरिमा में यह उनसे किसी तरह कम नहीं।"

प्रकाशक

बड़ी-बड़ी आँखें

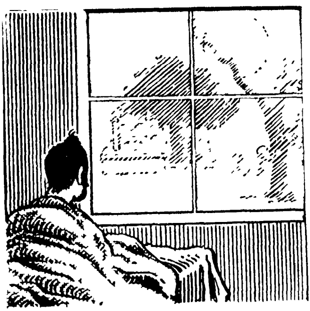

सर्दी उतर आयी थी। तड़के मेरी आँख खुल गयी। कम्बल खिसक गया था और ऊपर से चादर हट जाने के कारण सर्दी लग रही थी। कम्बल ठीक करने के लिए मैं उठकर बैठ गया। बायीं खिडकी के शीशे ओस मे भीगकर धुँधले हो रहे थे और उनमें से सामने कुएं का बरगद एक बडा-सा गीला-गीला स्याही का धब्बा-सा लग रहा था और चाँद की सुनहरी थाली निकट के टेढ़े-मेढ़े कुबड़े कीकर की एक काँपती-सी डाल के हाथों मे लरजती दिखायी दे रही थी।

फिर लेटने के बदले, मैंने पास ही रखी कुर्सी मे लोई उठायी और उसे लपेटता हुआ बाहर बरामदे मे आ गया। सामने बडा ही

सुन्दर दृश्य था—दूर 'बनौली' के घरों और पेड़ों की ऊँची-नीची लकीर के ऊपर चाँद गहरे सतरे का-सा रंग चारों ओर बिखेरता हुआ डूब रहा था। उसकी सफ़ेदी, अस्त होते समय सिमटकर सुनहली हो गयी थी। क्षणभर मैं निर्निमेष खड़ा, जैसे उस सारे सौन्दर्य को पीता रहा। फिर अनायास एक लम्बी साँस-प्रकृति की निकटता के उस अनिर्वचनीय सुख की, या जाने किसी गहरे, अकथ दुःख की—मेरे हृदय की गहराई से निकल गयी। मैं लौटकर अन्दर आया, लोई को वहीं कुर्सी पर रखकर बालों के ढीले जूड़े को एक बार फिर कस, कम्बल ओढ़, लेट गया।

लेट गया, लेकिन मुझे नींद नहीं आयी। लेटा-लेटा भी जैसे मैं उस दृश्य को देखने लगा—कितना सुन्दर था यह देवनगर—कीचड़ और दलदल में अनायास खिले कमल सरीखा मनहर और स्वच्छ! लेकिन महीना भर पहले जब मैं एक शाम वहाँ पहुँचा था तो वह मुझे इतना दिलकश न लगा था—शहर से 'गोरेशाह' तक बारह मील एक ठसाठस भरी बस में, फिर वहाँ से 'पत्थरचट्टी' तक दस मील लम्बी कच्ची-पक्की सड़क एक हिलते-डोलते बम्बूकाट में तय कर, बाकी डेढ़ मील का ऊबड़-खाबड़ रास्ता एक देहाती के सिर पर सामान उठवाये, पैदल चलकर, मैं देवनगर पहुँचा था। गोरेशाह के अड्डे पर बाकी तीन सवारियों की प्रतीक्षा में मुझे एक बजे तक बैठना पड़ा था। देवनगर पहुँचते-पहुँचते पाँच बज गये थे। आसमान पर बादल घिरे थे। देहाती साँझ अपने विशाल सूनेपन के साथ उतर आयी थी। मैं थका, ऊबा और भूखा था। ऐसे में देवनगर की दस एक-जैसी कोठियों की कतार मुझे वीराने में व्यर्थ ही अपना वैभव लुटाकर खिन्न मन हो बैठ जाने वाली देहाती युवती-सी उदास और बेरौनक़ लगी।

बड़ी-बड़ी आँखे

शायद वहाँ मेरे आने की प्रतीक्षा थी, क्योंकि पहली कोठी के बरामदे ही मे मुझे तीरथराम मिल गया। उसके जिम्मे उन दिनों अतिथि-सेवा का काम था। जब मैंने उसे अपने आने का प्रयोजन बताया तो वही बरामदे मे मेरा बिस्तर उतरवाकर वह मुझे बीच की एक कोठी मे ले गया। उस कोठी के बाये कमरे पर नीले रग का पर्दा पड़ा था, जो उस समय एक ओर को जरा-सा हटा हुआ था। पर्दे की उस झिरी मे से देवनगर के सस्थापक, 'देववाणी' के सम्पादक, 'देवमण्डल' के सचालक और 'देवसेना' के प्रधान सेनापति श्री देवा जी (सरदार देवेन्द्र सिह, जो अपने पाठकों, अनुयायियों और स्नेहियों मे इसी नाम से प्रसिद्ध थे।) एक डेस्क पर बैठे दिखायी दे रहे थे। उनकी पीठ हमारी ओर थी और दूध-से सफेद कपड़े उन्होंने पहन रखे थे। मैंने कभी उन्हे देखा न था पर अपने पिता जी के चित्रकार-मित्र श्री निरजनसिह से उनकी बड़ी प्रशसा सुनी थी। अतिथि-सेवक तीरथराम ने बरामदे मे बढकर किवाड पर टिक-टिक की। देवा जी लिखने मे निमग्न थे। उन्होंने नही सुना। फिर टिक-टिक करने पर उन्होंने सिर उठाया। घूमकर हमारी ओर देखा। पहचानने मे कुछ असुविधा होने से डेस्क पर पड़ा हुआ चश्मा उठाकर आँखों पर लगा लिया। तभी तीरथराम अन्दर गया। दूसरे क्षण मैं उनके पास कौच पर बैठा था और देवा जी मेरी कुशल-क्षेम पूछ रहे थे।

सफ़ेद चूड़ीदार पायजामे और अचकन मे ढका, पतला-छरहरा (लेकिन अब कद्रे मोटापे की ओर को मायल) सुगठित शरीर, तीखी ठोडी, छोटी-छोटी खुशनुमा मूँछे, गहरी अहसास भरी आँखें और सिर पर बडी मेहनत से सजी दस्तार—अमरीका जाने से पहले देवा जी डाढी भी रखते थे और बाल भी, अमरीका से आने के

बाद, (अथवा वहीं) उन्होंने दोनों से मुक्ति पा ली थी, शायद अमरीका में टोप पहनते हों, पर हिन्दुस्तान में आने पर तो वे दस्तार ही सजाते थे—पहली दृष्टि में वे मुझे बड़े अच्छे और बड़े सहृदय लगे।

"रास्ते में कुछ तकलीफ तो नहीं हुई?"

यह पूछते हुए उन्होंने फाउण्टेनपेन का ढकना बन्द किया और कुर्सी मेरे निकट सरका ली।

"पहुँच ही गया हूँ," एक मजबूर-सी मुसकान मेरे ओठों पर आ गयी।

"पत्थरचट्टी तक तो सड़क गनीमत है," वे बोले, "यह डेढ़ मील का रास्ता जरा परेशान करता है। बरसात खत्म हो गयी है। इन सर्दियों में हम जरूर सड़क बना देंगे।"

"हाँ सड़क बन जाय तो इक्का-ताँगा सीधा यहाँ तक आ सकता है।"

"यहाँ आने वाले तो शहर से सुबह चलते हैं," वे बोले।

"चला तो मैं भी सुबह ही था," मैंने कहा, "पर गोरेशाह के अड्डे पर देर लग गयी, एक बजे तक इक्के पर बैठा रहा।"

"तो कुछ खाना-वाना खाया है या नहीं आपने?" और फिर मेरा उत्तर सुने बिना उन्होंने अन्दर की ओर शायद अपनी लड़की को आवाज़ दी—"वीणी।"

दूसरे क्षण छोटी-छोटी दो लड़कियाँ दरवाजे में आ खड़ी हुईं। बुलाया एक ही को गया था, पर अपने पिता के आदेश को पालने की उत्सुकता दोनों को एक-दूसरी से बढ़कर थी।

"इनके लिए कुछ नाश्ते-वाश्ते का प्रबन्ध करो, वाणी!"

बड़ी-बड़ी आँखें

'वाणी.....वीणी.....याने वीणा!' मैंने सोचा, 'यह तो हिन्दुआना-सा नाम है। बलवन्त या सतवन्त कौर की तरह पुल्लिग के साथ 'कौर' लगा कर स्त्रीलिंग बनाये गये हमारी सिख लड़कियों के नामों-सरीखा बिल्कुल नहीं। 'वाणीकौर' तो हो ही नहीं सकता। वैसा हिन्दुआना नाम शायद उन्होंने अपने उसी मत के अनुसार रखा है, जिसके अधीन बाल कटवा दिये हैं—जो मत इंसान-इंसान के मध्य नामों, जातियों और पोशाकों की खाइयाँ पसन्द नहीं करता।'

तभी उन्होंने पूछा, "आप देववाणी पढ़ते हैं? देवसेना के बारे में कुछ जानते हैं?"

"जी नहीं, बाक़ायदा तो नहीं पढ़ता रहा। इधर निरंजनसिंह जी ने कुछ अंक दिये हैं और मैं आपकी लेखनी से बड़ा प्रभावित हुआ हूँ।"

"यहाँ तो अभी वीरान ऊसर है, आप तो शहर की गहमागहमी के आदी हैं।"

"जी, मन की कभी ऐसी भी दशा होती है जब शहर अपनी सारी गहमागहमी के बावजूद वीराना लगता है," मैंने कहा, "मेरा मन बड़ा अशान्त है। शान्ति की खोज में मैं गांधी आश्रम जा रहा था। काँग्रेस के एक-दो नेताओं से मेरा अच्छा परिचय है, वहाँ शिक्षा की जो नयी योजना चलने वाली है, उसमें मेरे काम करने की बात भी तय हो गयी थी, लेकिन जब यह बात मैंने निरंजनसिंह जी को बतायी तो उन्होंने कहा कि शान्ति की तलाश में इतनी दूर जाने की क्या ज़रूरत है, पास ही देवनगर बस रहा है, वहाँ जाओ, वहाँ तुम्हें न केवल मन की शान्ति, बल्कि सच्ची ख़ुशी भी मिलेगी। वे मेरे

पिता जी के मित्र है। लेकिन उनका व्यवहार मेरे साथ भी सदा मित्रों-सरीखा रहा है। उन्होंने मुझे आपके और मण्डल के बारे में बहुत-कुछ बताया, देववाणी के अंक भी पढ़ने को दिये और मेरे मन मे आपके आदर्शो पर चलने की प्रबल साध भर दी। अशान्ति तो मेरी दूर नही हुई, पर उसके दूर होने की आशा बँध गयी है। शहर की गहमागहमी मुझे न खीचेगी, आप विश्वास रखे।"

पत्नी की मृत्यु के बाद सहसा मेरा मन जो शहर से भाग चलने को बेताब हो उठा तो उसका कारण यही न था कि मुझे अपनी बीवी से बेहद मुहब्बत थी और बड़ी लम्बी तकलीफदेह बीमारी से उसका देहान्त हुआ था, बल्कि बडी छोटी, लगभग नजर-अन्दाज कर दी जाने वाली, एक घटना थी, जिसे मै भुला न सका था।

उसके मरने के तीन दिन पहले, जब मै उसकी चारपाई की पट्टी पर बैठा उसके बालों पर स्नेह-सिक्त करुणा से हाथ फेर रहा था और देख रहा था कि उस लम्बी तकलीफदेह बीमारी ने कैसे अपने अदृश्य दाँतों से, बिना किसी प्रकार के घाव किये उसे अन्दर-ही-अन्दर खा डाला है और सोच रहा था कि यदि मै सम्पन्न होता तो क्या उसे स्विट्जरलैण्ड न ले जाता.... कि अचानक उसने अपनी बेआवाज़ हँसी के साथ बडे ही धीमे स्वर मे पूछा—"दार जी,* नरक और स्वर्ग मे क्या आपका जरा भी विश्वास नही?"

---

* **सरदार जी**

बड़ी-बड़ी आँखे

स्विट्जरलैण्ड की मनमोहिनी घाटियों और विज्ञान के आधुनिक साज-सामान से लैस उसकी स्वास्थ्यशालाओं पर मँडराता हुआ मेरा मन जैसे एक ही झटके मे वापस वही आ गया।

मुझसे तत्काल कुछ जवाब न बन पड़ा। चुपचाप उन हँसते हुए दाँतों, नीले-नीले से रक्तहीन ओठों, जबड़े की उभरी हुई हड्डियों, गहरे धँसे कल्लों, ऊँचे मस्तक और उन पर बिखरे हुए उलझे बालों को मै देखता रहा।

मेरी बीवी ने मौत की छाया देख ली थी। मेरे निकट होकर भी, वह मुझसे कोसों दूर, जिन्दगी और मौत के पार, स्वर्ग-नरक की न जाने किन अनजानी घाटियों मे भटक रही थी। मैने देखा उसकी आँखों मे भय न था, जिज्ञासा थी, मेरे आश्वासन भरे शब्द सुनने की उत्सुक गहराई थी। लगा कि जैसे किसी अदृश्य डोरी को पकड़े वह गहरी खोह के दहाने पर लटक रही है। डर के पडाव को वह पार कर गयी है। अपनी होनी से उसने समझौता कर लिया है, पर वह जानना चाहती है कि गहरे अँधेरे गर्त्त के तल मे उसे उबलता लावा मिलेगा या नर्म-नर्म मिट्टी की सोंधी-सोंधी शान्तिभरी गोद ? और जैसे मै उसे जो बताऊँगा वह ठीक ही होगा, वह डोरी को छोड़कर मेरे उस आश्वासन के सहारे मजे मे उस खोह मे डूबती चली जायगी।

लेकिन मै वैसा कुछ आश्वासन न दे सका। मै उस प्रश्न के लिए तैयार न था। स्वर्ग-नरक मे मेरा विश्वास नही। स्वर्ग तो, नरक तो, मै इसी दुनिया की चीज मानता हूँ। लेकिन इस दुनिया मे जिसने लम्बी, कष्टदायक बीमारी की यन्त्रणा का नरक देखा हो, वह दूसरी दुनिया मे कुछ सहारा चाहता है। स्वर्ग एक सपना नही, बिल्कुल

हकीकत बनकर उसके सामने आता है। इसी कारण मैं चुप रहा था, पर जब उसकी प्रश्नभरी आँखें मेरे चेहरे से न हटीं तो मैंने कहा था—"पित्तो, स्वर्ग-नरक के बारे में तुम मेरे विचार जानती हो, लेकिन तुमने अपना कर्त्तव्य पूरी तरह निभाया है, यदि कोई स्वर्ग है तो वह अवश्य तुम्हे मिलेगा।"

तीसरे दिन वह मर गयी थी। उसे चिता के हवाले करके जब मैं घर आया और सगे-सम्बन्धियों, मित्र-शत्रुओं के शोक के दिखावे से छुट्टी पाकर बिस्तर पर लेटा तो दूसरी बीसियों स्मृतियों को पीछे धकेलकर, वही तीन दिन पहले की उसकी सूरत मेरी आँखों में घूम गयी और वही प्रश्न कानों में गूँज उठा—"दार जी, क्या स्वर्ग-नरक में आपका जरा भी विश्वास नहीं?"

तब सूझा कि मुझसे बड़ी भूल हुई। यह ठीक है कि वह दो साल से बीमार थी, यह भी ठीक है कि मेरे और उसके घर वाले, वह और मैं—सब जानते थे कि उसका रोग असाध्य है और उसकी दवा अब मौत के सिवा किसी और के पास नहीं। तो भी मुझे उसके सवाल का कुछ और जवाब देना चाहिए था। मुझे कहना चाहिए था—"तुम ऐसी बाते क्यों सोचती हो पित्तो? तुम ठीक हो जाओगी और हम यहीं स्वर्ग सी सुन्दर दुनिया बसायेंगे......"

और आत्मग्लानि और धिक्कार से मेरा मन भर आया था। वास्तव में उसकी बीमारी उस हद को पहुँच गयी थी, जहाँ हीले-बहाने बेकार हो जाते हैं और मेरे मुँह से सच्ची बात निकल गयी थी, उस समय लगा था, जैसे मेरी उस बात से उसे सान्त्वना भी मिली है। लेकिन उसके देहावसान के बाद, वही बात मेरे दिमाग़ को परेशान करने लगी। 'वह सच कितना क्रूर था,' मैंने सोचा, 'जब तक साँस है,

तब तक आस है। क्या यह बेहतर न होता कि उस क्रूर मृत्यु के बदले में प्यारा-सा, मीठा-सा झूठ बोल देना और उसका मन इसी दुनिया में लगाये रहना ? मेरे उस उत्तर से उसने प्रतिक्षण अपनी मौत को देखा होगा। तिल-तिल-कर वह मरी होगी....'

सोच-सोचकर मेरा दिमाग घूम गया। मेरी नौकरी बीवी की बीमारी ही में छूट गयी थी। घर से जाने की कोई जल्दी न थी, लेकिन उन स्मृतियों से परेशान होकर कस्बा छोड़, मैं शहर आ गया। ख़याल था, उसकी गहमागहमी में मैं अपने गम को भुला दूँगा, पर शहर के सारे शोर-शराबे और चहल-पहल में मेरे दिल का वह सूनापन और दिमाग की परेशानी कई गुना बढ़ गयी। कई बार ऐसा भी होता है कि एक आवाज को दबाने के लिए दूसरी आवाज और भी बुलन्द हो उठती है। शहर के उस शोर में मेरे मन के धिक्कार की वह आवाज उच्च से उच्च-तर हो गयी। उस आवाज को दबाने और अपने मन को पत्नी की बीमारी, मौत और बीते दिनों की यादों से हटाने के लिए मैंने गांधी-आश्रम जाने की ठान ली। मेरा परिचय जिन नेता से था, उन्होंने वहाँ के शान्त वातावरण, वहाँ की बाँस और फूस से छायी छतों और मिट्टी से लिपी-पुती साफ-सुथरी, मन्दिरों सी पवित्र झोपड़ियों, वहाँ की सादा जिन्दगी और ऊँचे विचारों—वहाँ के सारे वातावरण की बड़ी प्रशंसा की। 'जीवन की उपादेयता वहीं रहकर महसूस होती है,' उन्होंने कहा और वहाँ पत्र व्यवहार करके मेरे लिए तय कर दिया। लेकिन जब मैंने निरंजनसिंह जी को अपने फैसले की बात सुनायी तो वे कुछ क्षण चित्र बनाते-बनाते रुक कर, ब्रश की पिछली नोक दाँतों में लिये हुए, चुपचाप बैठे रहे। हालाँकि वे मेरे पिता के मित्र थे, लेकिन यह अजीब बात थी कि

पिता के अन्य मित्रों से मुझे जो झिझक थी, वह उनसे न थी। भाई, चचा या ताऊ के सामने जो संकोच होता है, वह उनके सामने एकदम गायब हो जाता था। कुछ अजीब तरह की मैत्री उनके व्यवहार में थी और मन की सब बातें मैं उनसे निःसंकोच कह देता था। वे भी एक हमदर्द, लेकिन अनुभवी मित्र की तरह, मुझे परामर्श देते थे।

क्षण भर तक ब्रश की पिछली नोक दाँतों में लिये हुए वे सोचते रहे, फिर अचानक उन्होंने कहा—"तुम देवनगर क्यों नहीं चले जाते ?"

"देवनगर ?" मैंने कुछ हैरान होकर आँखे उठायी।

"तुमने देवनगर का नाम नहीं सुना ?" वे चकित-से बोले, "प्रांत के पढ़े-लिखे वर्ग पर तो देवनगर के संचालक का बड़ा प्रभाव है। ये लो इस पत्रिका के कुछ अंक पढ़ो।" और उन्होंने आलमारी से 'देववाणी' के कुछ अंक उठाकर मेरे सामने फेंक दिये और बोले—"देवनगर का वातावरण तुम्हें पसन्द आयगा। गांधी-आश्रम बहुत दूर है और वहां जिस कड़ाई की मैं बात सुनता हूँ, वह हर किसी के बस की नहीं। फिर वहां गांधी जी के महान व्यक्तित्व के सामने तुम्हें अपना आप एक तृण सरीखा लगेगा। तुम देवनगर जाओ ! देवनगर में तुम अपना विकास कर सकोगे। यहाँ से निकट भी है, केवल बाईस मील। रास्ते में तकलीफ जरूर होगी, पर एक बार जब पहुँच जाओगे तो आने को मन न होगा।"

"मैं वहाँ करूँगा क्या ?" मैंने पूछा।

"काम की वहाँ कमी नहीं," वे बोले, "मैं पिछले दिनों वहाँ गया था। देवा जी से मिला था। वे मुझे वहां चाहते हैं। जगह ऐसी

सुन्दर है कि मेरा मन भी है, पर अभी कुछ वर्ष तक मैं यहाँ से नहीं जा सकता।" पल भर को निरजनसिंह जी रुके, फिर बोले, "बातों-बातों मे मुझे पता चला कि वे 'देववाणी सिरीज' की कुछ पुस्तकें हिन्दी और उर्दू मे प्रकाशित करना चाहते हैं। तुम इलाहाबाद के पढ़े हो। दोनों जबानें जानते हो। यह काम तुम बखूबी कर सकते हो। फिर वहाँ दसियों और काम हैं। 'देववाणी' के हिन्दी-उर्दू सस्करण निकालने की उनकी स्कीम है। नये ढग का एक प्रैक्टिकल स्कूल वे खोलना चाहते हैं, फार्म भी चलाना चाहते हैं। सपने उनके बडे हैं, उन्हें अमली जामा पहनाने को सैनिक तो दरकार होंगे ही।"

"मुझे तो वे जानते भी नहीं और मैं भी वहाँ के बारे में कुछ नहीं जानता," मैंने कुछ संकोच से कहा।

"देववाणी के ये अंक पढ लो, बहुत कुछ जान लोगे, रही देवा-जी की बात। सो मैं उन्हें चिट्ठी लिख दूँगा, तुम्हें भी चिट्ठी दे दूँगा।"

उस शाम मैं दुविधा मे पडा चला आया था, पर ज्यों-ज्यों मैं 'देववाणी' के अक पढता गया, मेरी दुविधा मिटती गयी। देवा जी का दर्शन, उनके सामाजिक और राजनीतिक विचार और उनका रहन-सहन का ढग मुझे आकर्षित करने लगा। वे अन्धविश्वास के, सनक के, टोने-टोटके, भाग्य-भगवान, भीख या दान के विरुद्ध थे। प्रकृति की महान सत्ता को मानते हुए भी वे किसी व्यक्तिगत भगवान के क़ायल न थे। किस्मत को मानना उन्हे मानव के अहम् का अपमान लगता था। दिखावा उन्हे जरा पसन्द न था। मै कई नेताओं को जानता था, जो सत्य-अहिंसा को अमली जामा पहनाने में चाहे महात्मा गाधी से पीछे हों, पर जहाँ तक दिखावे का सम्बन्ध है, कही आगे बढे हुए थे.....एक केवल सिघाड़े और दही खाते थे। दूसरे

केवल फल और दूध। तीसरे साग-सब्जी पर रहते थे। एक चौथे थे जो सुबह उठते ही राम-नाम लेने के बाद किसी तरह का प्रकट पाप न करने पर भी आत्म-सुधार के हेतु सात जूते अपने मुँह पर मारते थे और सदा शीर्षासन करते थे, चाहे मुसाफ़िरों से भरी गाड़ी में भी क्यों न यात्रा कर रहे हों। एक पाँचवे थे जो दिन के अधिकांश में तकली कातते थे और जब तकली कातते थे तो किसी से बोलते न थे.... इन सब के मुकाबले मे 'देववाणी' का फ़ल्सफ़ा मुझे अधिक अमली और बेहतर लगता था।.... सातवे दिन मैंने निरंजनसिंह जी से कहा कि मुझे चिट्ठी लिख दीजिए।

उन्होंने चिट्ठी लिख दी और मुझे लिफ़ाफ़ा देते हुए कहा—"मैंने देवा जी को उसी दिन लिखा था। उन्होंने उत्तर दिया है कि मैं तुम्हें भेज दूँ। आज मैं तुम्हारे जाने के बारे मे लिख देता हूँ। तुम बेझिझक वहाँ जाओ और अपनी सेवाओं को देवसेना के अर्पण कर दो, गांधी-आश्रम की रुखाई और कड़ाई तुम्हे देवनगर में न मिलेगी, पर उद्देश्य की उच्चता, वातावरण की स्वच्छता, कलाकारिता और समाज-सेवा की लगन तुम वहाँ भरपूर पाओगे। 'देवसेना' की बढ़ती हुई सरगर्मियों मे हिस्सा लोगे तो तुम्हारे मन की अशान्ति बहती पछुआ के आगे उड़ने वाली पपोली-सी हवा हो जायगी।"

चाय पीते-पीते मैंने देवा जी को यह सब बताया तो वे मुस्कराये। निरंजनसिंह जी की कला, उनके स्नेह और सौहार्द्र की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की और कहा—"देवनगर आपका स्वागत करता है, आप जब तक मन हो रहिए, इसके कामों मे हाथ बटाइए, हमारे सुख-दुख मे हिस्सा लीजिए; लेकिन भाई, जहाँ तक आपके मन की शान्ति का

सम्बन्ध है, उसका स्रोत न गांधी-आश्रम मे है न देवनगर मे। वह तो आपके अन्तर ही मे है। वही आपको उसे खोजना होगा। गाँव से शहर और शहर से भागकर गाँव में रहने, साम्राज्य छोड़कर सन्यास लेने अथवा सन्यास तजकर साम्राज्य पाने मे शान्ति नही, जीवन के ये परिवर्तन अशान्ति के कारणों को हटाते नही, उन्हे आगे-पीछे कर देते है। अशान्ति का कारण है अनुभवहीनता, अनिश्चय और अहम् का आधिक्य ! सम्राट् यदि गद्दी छोडकर कुटिया को अपना लेता है तो इन बुराइयों को वह साथ ही ले जाता है। इसलिए विचारवान सभी दशाओं मे शान्त और प्रसन्न रहता है।"

देवा जी की बात मेरे अशान्त मन पर ठंडे लेप सरीखी लगी। मैने कहा—"मै आपकी बात मानता हूँ। आपके मुकाबले मे तो मैं अभी बच्चा हूँ, मेरा अनुभव ही क्या है, कुछ वर्ष अपने पास रहने दीजिए, अनुभव प्राप्त करने दीजिए, मन अपने-आप शान्त हो जायगा।"

"निरजनसिह जी ने आपको सेना में लेने की सिफ़ारिश की है," वे बोले, "आप कुछ दिन रहिए, देवमण्डल के बारे में जानिए, आपका मन होगा तो आपको सेना में भी ले लेंगे। अभी जो आप चाहेगे, आपको मिल जायगा।" फिर कुछ रुककर बोले, "अभी कितने मे आपका काम चल जायगा ?"

पत्नी के देहान्त के बाद, यह समस्या मेरे लिए कुछ वैसे महत्व की न रह गयी थी, मैने कहा, "आप जो भी दे सकें, मुझे स्वीकार होगा।"

"रहने-खाने का प्रबन्ध हम कर देंगे, और पचास रुपये आपको जेब-खर्च के लिए मिल जायँगे। चल जायगा इतने से ?"

"जी, मजे से।"

"तो ठीक है, अब आप जाकर आराम कीजिए, थके हुए हैं।"

और उन्होंने तीरथराम को बुलाकर मुझे उसके हवाले कर दिया।

देवनगर में एक सरीखी दस कोठियों के अतिरिक्त एक ड्योढ़ी, एक कम्यूनिटी किचन, एक डाइनिंग हाल और एक अठकोना गुम्बद भी था। ड्योढ़ी नौ कोठियों के बाद थी। कोठियों के नम्बर उल्टे थे। पत्थरचट्टी से देवनगर पहुँचें तो पहले दस नम्बर की कोठी पड़ती थी। गुम्बद दस नम्बर की कोठी के पीछे था। मुझे तीरथराम से मालूम हुआ कि छुट्टी का दिन न हो तो देवा जी वहीं बैठते हैं। छुट्टी के दिन प्रायः वे घर पर ही काम करते हैं।

ड्योढ़ी से परे केवल एक कोठी थी—नम्बर एक, जिसके बाद खेत थे और रास्ता एक ओर नहर को और दूसरी ओर बनौली को निकल जाता था।

ड्योढ़ी के पीछे से एक रास्ता, जिसके दोनों ओर मेंहदी की कटी-छटी बाड़ थी, कम्यूनिटी किचन को जाता था। किचन के साथ फूस की छत का एक बड़ा मँडुवे जैसा हाल था, जो साँझ के उस धुँधलके में उस स्थान को और भी सुनसान बना देता था।

खाना खाने के लिए तीरथराम मुझे उसी बड़े मँडुवे में ले गया। वह आम भाषा में तो लंगर कहलाता था, पर था बिल्कुल नये ढंग का डाइनिंग हाल। उस समय उसमें केवल एक गैस जल रहा था। रात की उस तारीकी में बिजली की अभ्यस्त मेरी आँखों को वह हाल अँधेरा, सूना और उदास लगा। सामने एक पक्की

पैंटरी बनी थी, जिसपर खाली थालियाँ, कटोरियाँ चमचे आदि रखे थे। बराबर के किचन से खाना पक कर वहाँ आ जाता। खाने वाले लोग पैंटरी से थाली कटोरी ले लेते। पैंटरी के पीछे खड़ी स्त्रियाँ खाना परस देती और लोग अपनी-अपनी मेजों पर आ बैठते। दूसरी बार स्त्रियाँ स्वय रोटियों की थाली या सब्ज़ी-तरकारी के डोंगे लिये मेज-मेज हो आती।

खाना खाते समय तीरथराम ने बताया कि देवा जी ने स्त्रियों को रसोई की गुलामी से नजात दिला दी है। देवनगर मे एक-दो घरों को छोड़कर सब इस साझे की रसोई मे खाना खाते है। पकाने वाले रसोइए है और परसने वाली स्त्रियाँ। बारी-बारी से देवनगर की देवियाँ यह कर्त्तव्य निभाती है और अपना शेष समय उपादेय कामों मे लगाती है।

खाना खाने के बाद थालियाँ उठाकर हम किचन के नल पर रख आये और तीरथराम मुझे ड्योढ़ी की छत पर सोने के लिए ले गया। वह लम्बा-तगड़ा हृष्ट-पुष्ट जवान था, लेकिन उस लहीम-शहीम देह मे दिल एक कवि का है, इसका पता उसकी बातों से मुझे तत्काल चल गया। लगर से आने और सोने की तैयारी करते हुए उसने मुझे बताया कि देवनगर जिस जमीन पर है, वह कभी मुग़लों के जमाने मे एक बड़ी जागीर थी। इस ड्योढ़ी के साथ एक ऊँचे परकोटे के खण्डहर थे और लोगों का कहना था कि वहाँ प्रेत रहते थे और लोग दिन को भी उसके पास जाते डरते थे। जागीर का स्वामी दिल्ली का एक पण्डित था, जिसने अपनी सारी जायदाद शराब और वारांगनाओं की भेट कर दी थी। उसी ने कुछ दोस्तों के उकसाने पर वहाँ ट्यूब-वेल लगाया था कि फ़ार्म चलायेगा, पर उसे न कृषि का अनुभव था, न कारोबार का, मेहनत की उसे आदत न थी और शराब

में वह धुत्त पड़ा रहता था। इसलिए फार्म न चल सका, उजड़ गया और वहाँ प्रेतों के अस्तित्व पर लोगों का विश्वास और भी पक्का हो गया। देवा जी ने उससे यह जमीन सस्ते मे ले ली तो परकोटे की ईटों से बाहर से पक्की और अन्दर से कच्ची दीवारे खड़ी कर के बड़े सस्ते मे ये दस कोठियाँ और लगर बनवा लिया। ड्योढी और गुम्बद का जीर्णोद्धार कर उन्होंने नहर की मिट्टी मँगवा, कोठियों के आगे घास के लॉन, मेहदी की बाडे और बाग लगवा दिये। नयी खाद डाल कर उन्होंने ऊसर धरती को उर्वर बना लिया और प्रेतों को ऐसा भगाया कि फिर उन्होंने इधर का मुँह नही किया।

लेकिन पुनरुद्धार हो जाने के बाद भी ड्योढी की बे-मुडेर की छत आसमान की ओर फैली हुई खुली, सपाट हथेली की तरह लगती थी। शहरी मकानों की छतों पर चारों ओर जो एक पर्दा-सा होता है, वैसा कुछ वहाँ नही था। देवा जी ने ड्योढी मे कुछ बढाया न था, सीमेंट की परत और सफ़ेदी के दूध से उसका रग बदल दिया था। उस शाम के मल्गजे अँधेरे मे कम-से-कम मुझे ऐसा ही लगा।

तीरथराम कवि था, उस समय बड़े अच्छे मूड मे था और यदि मै बेहद थक न गया होता और कम्बल न तान लेता तो वह शायद मुझे दो-एक कविताएँ भी सुनाता, लेकिन बस और इक्के की यात्रा ने मेरे शरीर की पोर-पोर को झकझोर दिया था, इसलिए मै देवनगर की स्थापना के सम्बन्ध मे तीरथराम की काव्यमयी प्रशस्ति के बावजूद लेटते ही सो गया।

लेकिन मुझे गहरी नीद सोना नसीब नही हुआ। रात बड़े जोर की आँधी आयी और लगा कि हम कम्बल समेत उड़ जायेंगे। तीरथराम शायद मरु की उन आँधियों का अभ्यस्त था, इसलिए

पहला झोंका आते ही चारपाई उठाकर, वह सीढियों मे चला गया। कुछ देर बाद जब मै चारपाई समेट कर चला तो आँधी के प्रबल झोंके मे लगभग उखड़ कर छत के किनारे जा पहुँचा। चारपाई छत से नीचे जा रही और मै ...... जाने मेरे ओठों से भय-सूचक कैसी चीख़ निकली कि तीरथराम ने भागकर मुझे थाम लिया। मेरी आस्तीन पकड़ कर वह मुझे घसीट न लेता तो चारपाई के साथ मै भी नीचे जा पहुँचता।

देवनगर की पहली रात का वह क्षण मेरे स्मृति-पट पर कुछ ऐसा अकित हुआ कि बाद मे वर्षो तक, जब भी मै बिस्तर पर लेटता, एक-न-एक बार वह जरूर मेरी आँखों मे घूम जाता—आँधी के जोर से 'शां-शां' करते हुए, शेपनाग के भयानक फनों जैसे बनौली के गहरे काले पेड़; धूल-गर्द के पीछे छिपे चाँद की पीली रोशनी मे चादर-दर-चादर आते हुए बावली आँधी के हरहराते झपाके और चारों ओर छाये हुए अन्धकार के आलिगन में जैसे भिचती हुई-सी वह ड्योढी की छत......इसान कितना बुद्धिमान, बलवान, लेकिन कितना बेबस और मजबूर!.....जब-जब मुझे अपनी उस बेबस चीख़ का ध्यान आता है, मेरी आँखों के सामने वैसा ही एक और क्षण घूम जाता है—

......सोलन की एक पहाडी पगडण्डी पर मै एक महान नेता के साथ जा रहा था—वे धीर-गम्भीर, ज्ञानी और दार्शनिक थे—रमण महर्षि के आश्रम से हो आने के बाद, मृत्यु पर विजय पाने के लिए योगसाधना किया करते थे और उनके श्रद्धालु प्रचार करते थे कि उन्होंने सचमुच मृत्यु के भय को जीत लिया है— बातों मे निमग्न मेरे साथ चलते-चलते, वे एकदम भयार्त स्वर मे चिल्लाकर उछले।

मैं एक कदम पीछे हट गया। दूसरे क्षण सरसराता हुआ एक साँप मेरे सामने से गुजर गया। शायद उनका पैर साँप पर आ गया था। उनकी वह चीख मेरी ही चीख की तरह बयान से बाहर थी। किसी तरह के शब्द या उपमा में उसे बाँध लेना एकदम असम्भव है—अन्तस्तल के कहीं बहुत नीचे से निकली हुई भयातुर आवाज !

लेकिन दूसरे दिन सुबह के उजियाले में देवनगर को देखा तो वही एक-जैसी कोठियों की कतार, जो नींद के मद में सपनों के शाद्वल-सी सुन्दर लगती थी; वही भव्य ड्योढी, जिसके फर्श-पर नगीनों से चमकते हुए रंग-बिरंगे पत्थर ऐसे जड़े थे कि आँखें चौंधिया जाती थीं; ड्योढी से कम्यूनिटी किचन को जाती हुई वही चौड़ी रविश, जिसके दोनों ओर बड़ी खूबसूरत बाड़ थी; किचन के साथ का वही डाइनिंग हाल, जिसका फ़र्श, पैंटरी और मेजें सब उसी नगीनों-जड़े सीमेंट की बनी थीं और साफ इतनी थीं कि निगाहें फिसल जाती थीं—वह सारे-का-सारा देवनगर मुझे बड़ा ही आकर्षक लगा।

ड्योढी वास्तव में पुरानी जागीर का सिंहद्वार थी। ऐसा लगता था कि उसके इर्द-गिर्द ऊँची फ़सील थी, जिसके चारों कोनों पर चार बुर्ज बने थे। तीन बुर्ज टूट गये थे, चौथे को ड्योढ़ी के साथ-साथ देवा जी ने नया रूप दे दिया था। उसमें दो खिड़कियाँ और दो रोशनदान बनवा दिये थे। पर्दे, गालीचे और फर्नीचर की सहायता से उसे बड़ा ही सुन्दर बना दिया था।

ड्योढी में देव-सैनिकों के सम्मिलन-स्थल और देवमंडल के दफ़्तरों की व्यवस्था थी। दफ्तर ऊपर की मंजिल—मंजिल क्या,

म्याने में था। वहाँ कभी पहरेदार दीवार के छेदों मे सगीनें ताने चौकस खड़े रहते होंगे। पर अब देवा जी ने चारों ओर खिड़कियों की व्यवस्था करके उसे सेक्रेटेरियेट का दर्जा दे दिया था। निचली मंजिल में एक बड़ा-सा हाल बन गया था। दफ्तर की खिड़कियों से नीचे होने वाली प्रत्येक सभा का नजारा किया जा सकता था। वहाँ देव-सैनिक सप्ताह में हर रविवार की सुबह को इकट्ठे होते थे और देवा-जी प्रवचन देते थे।

ड्योढी के परे जो अकेली कोठी थी——नम्बर एक, उसी मे मुझे एक कमरा मिल गया। खुला और हवादार। कोठी के आगे, सभी कोठियों की तरह, अर्ध-गोलाकार लॉन था, जिसमे बडी अच्छी घास और फूल लगे थे। सामने मेंहदी की क़द-आदम बाड़ सड़क से आने वाली गर्द को रोकती थी। खिड़की के बाहर कीकर का एक कुबड़ा-सा पेड़ था, परे सरवनसिह के खेत, रहँट, बरगद और बनौली का गाँव था। उस पहली रात के कटु अनुभव के बावजूद, सूरज की धूप में चमकता हुआ देवनगर मुझे भा गया। मै शहर वापस जाकर अपना सामान ले आया। देवा जी ने एक किताब मुझे अनुवाद को दे दी और मै जम गया।

"सगीत जी . . . संगीत जी," मेरे सोये हुए कानों मे आवाज़ आयी। लगा जैसे कोई मेरा दरवाजा तोड रहा है।

मै हड़बड़ा कर उठा। न कीकर की डाल वैसी सुन्दर थी, न उसमें चाँद लटक रहा था। न बाहर स्वप्निल वातावरण था, न अन्दर प्यारा-प्यारा धुँधलका। उगते सूरज की किरणें सारे कमरे में हुड़दंग

मचा रही थी और कम्बलों के कारण शरीर पर हलका-सा पसीना आ गया था और बाहर तीरथराम बराबर 'संगीत जी', 'संगीत जी' की रट लगाये हुए था।

"चले आओ, तीरथराम!" मैंने बालों को एक बार खोल, उलझी, बिखरी लटों को समेट, जूड़ा बनाते और सिरहाने तिपाई पर रखी हुई पगड़ी को सिर पर रखते हुए कहा, "दरवाज़ा खुला है।"

तीरथराम अन्दर आ गया। मैंने जरा खिसककर उसके बैठने को जगह बना दी।

"उठो, भाई! कब तक यों मुर्दा बने लेटे रहोगे? मैं तो नहर तक हो आया।" यह कहते हुए वह किंचित संकोच के साथ चारपाई पर बैठ गया। बेतकल्लुफ़ी से बैठता तो शायद पट्टी दो हो जाती।

"मेरी आँख तड़के खुल गयी थी, फिर बहुत देर तक नीद नहीं आयी, इसलिए......"

लेकिन अपना वाक्य पूरा करने से पहले मैं उचककर उठा और चन्द मिनट मे आने की बात कहकर स्नानगृह के दरवाज़े में ग़ायब हो गया।

देवनगर की कोठियों के स्नानगृह इतने खुले थे जितने शहरों के छोटे-छोटे गोल कमरे होते हैं। यद्यपि शहर में जहाँ मैं रहता था, फ़्लश नही था, लेकिन देवनगर के विधाता ने देवनगर की कोठियों में लगभग फ़्लश ऐसा प्रबन्ध कर रखा था।

दस मिनट में नित्य-कर्म से निवृत्त होकर मैं स्नानगृह मे वापस आया। ब्रश करते हुए मैंने सुना—तीरथराम धीरे-धीरे अपनी कविता गुनगुना रहा है:

मेरे जीवन के सूने नभ मे,
नयी तारिका जागी,
औ' सभी उदासी भागी।

हाथ-मुँह धोकर मैं बाहर आया। मैंने कपड़े बदले और कमरा बन्द कर हम बाहर निकले। मीठी-मीठी धूप देवनगर की कोठियों, ड्योढी, डाइनिग हाल और आस-पास बिखरे हुए खेतों और मैदानों को नया सौन्दर्य प्रदान कर रही थी। रसोइया हरगोविन्द गर्म दूध की बाल्टी भरकर कोठियों की ओर चल दिया था। हम दोनो अपने-अपने कमरों मे नही, बल्कि कम्यूनिटी किचन मे जाकर गर्म-गर्म दूध की चुस्कियाँ लेते थे और बातें करते थे।

तीरथराम कवि था। देवा जी का भक्त और उन्हीकी तरह अशरीरी, वायवी प्रीति मे उसका विश्वास था। देवा जी प्रेम के बडे भारी समर्थक थे—उस प्रेम को प्रीति कहा जाय तो ठीक होगा—मीठी-मीठी, हलकी-हलकी आँच-सी गर्मी पहुँचाने वाली; एक दूसरे की भावनाओं का ध्यान रखने वाली; एक-दूसरे को बढावा देने वाली प्रीति! लपलपाकर प्रिया को या अपने आपको जला लेने वाले प्रेम में देवनगर के संचालक का विश्वास न था। 'यह देवताओं का नही, राक्षसों का प्रेम है,' वे कहा करते, 'फूहड, असस्कृत, उजड्ड!' प्रीति का काम उनके ख़याल मे जलाना नही गर्मी पहुँचाना था—देवनगर के सैनिक उसी प्रीत-लड़ी के मनके बन जायें, यह उनका उद्देश्य था और देवनगर के वासी इसी उद्देश्य की माला जपते थे।

तीरथराम की कविताओं मे उसी प्रीति का उल्लेख था। उसके प्रेम का पक्षी फड़फड़ाता हुआ अपने प्रिय के चारों ओर घूमता, बादल की तरह उमड़-घुमड़ कर उसे छा लेना चाहता, पर उसके

शरीर से छू न जाय, इस डर से परे ही रहता। कम-से-कम अपनी कविताओं में वह प्रिय के शरीर को नहीं उसकी आत्मा को चाहता।

किचन के बरामदे की किसी कुर्सी अथवा डाइनिंग हाल की किसी खुली खिड़की की सिल पर बैठ अथवा योंही खड़े-खड़े मैं तीरथराम की कविताएं सुनता। कविता सुनाते-सुनाते उस प्रीति के झीने आवरण को भेदकर कभी-कभी दूर क्षितिज के अँधेरों में कौंध उठने वाली बिजली-सरीखी वासना उसकी आँखों में चमक जाती और कविता सुनाकर वह सदा बड़ी लम्बी गहरी साँस छोड़ता।

देवनगर के अपने इन सात-आठ दिनों में मैं तीरथराम के सिवा किसी से न खुल सका था। देवनगर एक ऊँचे आदर्श को लेकर अस्तित्व पा रहा था और वहाँ के वासियों को बिना जाने उनसे घुल-मिल जाना मेरे लिए असम्भव था। कुछ अजीब तरह का आतंक-सा मेरे मन पर छाया रहता। देव सैनिकों के मीठे बोल, उनका तकल्लुफ़, स्नेह और सौहार्द्र मुझे अचानक सशंक और सतर्क कर देता था, लेकिन तीरथराम से मैं खुल गया था और गयी रात तक उसके साथ घूमता रहता था।

चाँदनी रातें थीं। बड़ा-बड़ा सुनहरी चाँद नहर की ओर के आम की घनी शाखाओं के पीछे से अपना जादू बखेरता हुआ निकलता। माइयों पडी* किसी गोरी दुलहिन की तरह पीला होता हुआ, वह ज्यों-ज्यों ऊपर उठता, उसका पीलापन घुलकर दूधिया हो जाता, यहाँ तक कि दस बजते-बजते उसकी चाँदनी अँधेरे कोनों-अँतरों को रोशन कर देती—देवनगर की वह ड्योढ़ी

---

* **मांझे पर बैठी, लगन चढ़ी !**

उस धवल-पांडुर चाँदनी में ऐसी जगमगा उठती कि हम दोनों उसे देखते न अघाते—उस विशाल सूनेपन में वह भव्य ड्योढ़ी, वे चन्द नयी बनी, नयी पुती कोठियाँ और बस—स्वप्न भी इतने सुकुमार और ललित नहीं होते !

देवनगर के देवता सरेशाम से ही अपनी कोठियों में बन्द हो जाते। नौ-साढ़े-नौ तक बत्तियाँ भी बुझ जाती, पर हम दोनों गयी रात तक देवनगर की सड़कों और रविशों पर घूमा करते। कभी जब मन होता, तीरथराम मेरे साथ मिलकर बेतहाशा ठहाके लगाता। अपने बाजुओं के पट्ठों पर घूँसे मारता हुआ वह मेरे पतले छरहरे शरीर का मजाक उड़ाता। कभी जब मैं नंगे सिर होता या बाल सँवारता तो कहता—"तुम्हें औरत होना चाहिए था, ऐसे सुनहरे रेशमी लम्बे बाल तो औरतों के भी नहीं होते," लेकिन कई बार वह एकदम चुप हो जाता और यदि मैं मजाक करके हँसता तो मेरी वह हँसी निपट अकेली रहती, उसके ओठों पर मुस्कान तक न आती। धीरे-धीरे मैं भी चुप हो जाता। तीरथराम बार-बार आहें भरता। जब मैं कारण पूछता तो चुप रहता या केवल मुस्करा देता—एक क्षीण-सी उदास मुस्कान ! मेरे बहुत पूछने पर एक दिन उसने संकेत किया कि गाँव में एक लड़की से उसका प्यार है और उसकी याद कभी-कभी चाँदनी रातों में उसके जी को जलाती है।

किचन से दूध के गिलास लेकर हम डाइनिंग हाल की एक खिड़की के पास जा पहुँचे। मैं चौखट पर बैठ गया और वह खड़ा रहा। दूध खत्म करके चिलगोज़े गटकते हुए तीरथराम ने कहा—"रातभर मैं बिल्कुल नहीं सोया, कम्बख़्त यह चाँदनी ऐसी थी कि

मालूम होता था जैसे कहीं कुछ भी छिपा नहीं, सब कुछ खुला है, दिल का तारीक-से-तारीक कोना चमक उठा है।"

वह कुछ क्षण चुप रहा। फिर बोला—"जाने मुझे इन रातों में क्या हो जाता है। नींद बिल्कुल गायब हो जाती है। सुनता हूँ चाँदनी का पागलपन के साथ बड़ा सम्बन्ध है, इसीलिए अंग्रेजी में पागल को ल्यूनेटिक याने 'चाँदमारा' कहते हैं। कहीं मैं पागल न हो जाऊँ!"

और वह ज़ोर से हँसा। खाली, खोखली हँसी! फिर कुछ क्षण चुप रहकर उसने अचानक कहा—"जब आँखें जोर से बन्द करने और उन पर तौलिया रखने के बावजूद मुझे नींद न आयी तो मैंने उठकर एक कविता लिखी।"

"पूरी?"

"हाँ। नींद ही नहीं आयी। ख़त्म करके ही सोया।"

और वह कविता सुनाने लगा।

"देखो तीरथराम," कविता सुनकर मैंने कहा—"तुम्हें जिससे प्यार है, वह यहीं कहीं है।"

तीरथराम ने ठहाका लगाया—

"अरे नहीं यार! यहाँ क्या है, सिवा बाहर और भीतर की वीरानी के!" और 'भीतर' कहते हुए दिल की ओर संकेत कर उसने लम्बी साँस ली।

लेकिन न उसके ठहाके ने मुझे विश्वास दिलाया और न दिल की वीरानी के बारे में उसकी गप ने। मैंने कहा—"तुम न बताओगे तो मैं ख़ुद ढूँढ़ लूँगा।"

तब उसने वापस आते-आते अपने गाँव की एक लड़की की कहानी सुनायी, जो उससे प्यार करती थी, पर जिसकी शादी कहीं और हो

गयी थी। तीरथराम जब भी गाँव जाता उससे मिलने को छटपटाता। कभी-कभी वह भी मैके होती। तब दृष्टियों का विनिमय हो जाता, लेकिन तीरथराम की पत्नी उसका वहाँ जाना पसन्द न करती।

"तुम्हारे पत्नी भी है?" अचानक मैंने पूछा।

"हाँ मेरी शादी तो लड़कपन ही मे हो गयी थी।"

"बच्चे भी है?"

"हाँ।"

"कितने?"

"दो — दोनों लड़के। एक दस वर्ष का, एक चार का।"

"तुम उन्हे यहाँ क्यों नही लाते?'

"अभी जगह नही। यहाँ दस कोठियाँ है। एक विवाहित सैनिक और उनके साथ एक कुँवारा या बे-बीवी का—इस तरह एक-डेढ कुटुम्ब हर कोठी मे रहता है। कुछ और कोठियाँ बने तो ले आऊँगा।"

और हम वापस कोठी पर पहुँच गये। आकर अभी मुश्किल से कमरे का दरवाजा खोला होगा कि देवा जी हमारी ओर आते दिखायी दिये।

हम हड़बडाकर उठे। उन्होंने लॉन की गोल सड़क ही से मुझे आने का सकेत किया।

मैं 'नमस्कार' करता हुआ उनके पास चला गया। दाये हाथ मे मुझे बगल मे लेते हुए उन्होंने बडे मीठे स्वर मे कहा—

"देखो भाई, आपके बारे मे तरह-तरह की बाते मेरे कान मे पडती है। अभी सेक्रेटरी ने आपकी शिकायत की है कि आप तीरथराम के साथ आधी-आधी रात तक दीवानों की तरह बाहर घूमते रहते है। यहाँ केवल अठारह-बीस घर है। उन सबसे मिलकर न रहोगे तो

यहाँ रहना कठिन होगा। लोग तीरथराम को दीवाना समझते हैं। वे उससे खुश भी नहीं। आप उससे मिलेंगे और उनसे न मिलेंगे तो वे आपसे भी नाराज हो जायँगे। आप सबसे मिल-जुल कर रहिए।"

"जी, बहुत अच्छा।"

और मुझे स्नेह-से ज़रा-सा भींचकर और मेरे कँधे को थपथपाते हुए, जैसे अपने मनोरथ में सफल, खुश-खुश देवा जी चले गये।

उसी शाम किसी से दियासलाई की डिबिया, किसी से सूई-तागा, किसी से बटन और किसी से ब्लाटिंग लेने अथवा किसी-न-किसी बहाने से मैं सब घरों में हो आया और गृहणियों से बहन, भाभी, चाची और ताई का रिश्ता भी स्थापित कर आया।

लेकिन देवा जी के परामर्श से ज्यादा मैं यह जानना चाहता था कि इन अठारह-बीस घरों में ऐसी कौन-सी युवती है जो तीरथराम की आहों का कारण बनी हुई है।

———

सारे नगर में तीन स्त्रियां थी, जिनकी ओर किसी की निगाह जा सकती थी। सुन्दर मैं इसलिए नही कहता कि मुझे उन तीनों में से एक भी सुन्दर नही लगी।

उनमें से एक तो ड्योढ़ी के साथ वाली कोठी मे रहने वाले देवसेना के मंत्री गुरबचनसिंह की बीवी थी—जीत! उम्र ज़्यादा न थी। बच्चा अभी उसके कोई हुआ न था। थी भी खुली तबीयत की। नाक-नक्शा तीखा न था, पर बुरा भी नही। वह ज़रूर सुन्दर लगती, यदि बात करके वह कुछ नीम-पागलों की तरह हँस न देती। उसकी वह हँसी कुछ अजीब थी। सदा ऐसा लगता था कि उसके दिमाग़ का कोई पुर्जा ढीला है।

इसी बँगले के एक कमरे में सुदर्शनसिंह रहता था। ठिगने से क़द का गोरा-गोरा युवक, जिसकी पीठ पर बड़ा हलका-सा कूबड़ था। स्त्रियों की तरह उसके गालों पर बाल न थे, केवल ठोढी पर बकरे की-सी डाढी थी। देवनगर मे वह सुन्दर समझा जाता था और सरदार पालासिंह आर्टिस्ट की पत्नी ने उसे धर्म-भाई बना रखा था।

दूसरी स्त्री जो ध्यान आकर्षित करती थी और जो देवनगर में खासी सुन्दरी समझी जाती थी, इन्ही पालासिंह आर्टिस्ट की अर्धांगिनी थी। उम्र तो उनकी पचीस से तीस के अन्दर-अन्दर थी, पर कुछ तो आर्टिस्ट की पत्नी होने और फिर बूढे आर्टिस्ट (बूढे तो नही थे, पर जवान भी नही, उम्र उनकी पचास को होने आयी थी) की दूसरी पत्नी होने के कारण नखरा उनका बडा था। भरे खुले देहाती वातावरण मे पले अगों वाली। सुन्दर सुगठित गोरा-गदराया तन ओर देवनगर की प्रीतभरी फिजा मे साँस लेकर उड़ने और अरमान देखने के सपने लेने वाला मन। आर्टिस्ट महोदय रात को सोते समय चारों मग्ज, ख़शख़ाश और बादामों का हरीरा पीते थे—यों तो दिमाग को मजबूत करने के लिए, पर यदि दिमाग के साथ जिस्म भी कुछ शक्ति पा ले तो क्या बुरा है। पहली बीवी से सौभाग्यवश कोई बच्चा न था! तीन बच्चे दस वर्ष के वैवाहिक जीवन मे इनसे थे। लेकिन बच्चे गोद के होने की स्टेज को पार कर गये थे, माँ भी शेखूपुरा के सकुचित वातावरण से निकलकर देवनगर के स्वच्छन्द वायुमण्डल मे साँस लेने लगी थी। शिक्षा के नाम पर कभी किसी विद्यालय या पाठशाला की चौखट के पार न गयी थी पर बातचीत ऐसे करती थी जैसे बड़ी पढ़ी-लिखी और

फारवर्ड, याने नयी रोशनी की हों। सुदर्शनसिंह चाय के समय प्रायः वही आया करता था।

तीसरी महिला जिसकी ओर किसी की नजर जा सकती, बिल्डिंग डिपार्टमेण्ट के इंचार्ज नन्दलाल की पत्नी सावित्री थी। दो बड़े ही सुन्दर बच्चे थे उसके। एक का नाम था मदन और दूसरे का रीता—देवा जी की दो कहानियों के नायक-नायिका से उन्होंने ये नाम लिये थे। सावित्री पतले-छरहरे शरीर की कदरे लम्बी स्त्री थी। आँखें उसकी भरी और आकर्षक थी। ओठों पर सदा हल्की सी मुस्कान रहती थी। लेकिन एक तो उसके कल्ले ज़रूरत से कुछ ज़्यादा अन्दर धँसे हुए थे और निचला ओठ कुछ अधिक लटका रहता था, दूसरे न केवल उसके बच्चे सुन्दर थे, बल्कि उसका पति भी सुन्दर था और वह घर में भरी-पूरी थी।

बाकी दस घरों में ज्ञानी दिलावरसिंह की पत्नी थी, अवतारसिंह की पत्नी थी, मधवार साहब की पत्नी थी, खोसला साहब की पत्नी थी, हरनामसिंह की पत्नी थी और खुद देवा जी की पत्नी थी— लेकिन वे न जाने कब की उस हद को पार कर गयी थी, जब कोई युवती किसी कवि के निश्वासों का कारण बनती है। वे प्रायः घर पर रहती। डाइनिंग-हाल में खाना परसने पर भी उनकी ड्यूटी न लगती। दो-एक तो खाना भी घर में ही पकाती थी। लड़की देवनगर में कोई न थी। वाणी और मधु—देवा जी की दो लड़कियाँ थी और मधवार साहब के थी श्यामा—पर वे तो बच्चियाँ थीं।

और मुझे उन सब में एक भी ऐसी न लगी जो तीरथराम की आहों और रतजगों का कारण होती। तो क्या तीरथराम ठीक कहता

है कि उसके गाँव के अतीत में खोयी उसकी प्रीति देवनगर की इन चाँदनी रातों मे उसका दिल दुखाती है ?

लेकिन नहीं, तीरथराम की प्रीति वहीं बसी थी। दो महीने के बाद अचानक मुझे इसका पता चल गया।

दिसम्बर का महीना था। बड़े दिन की शाम। तीरथराम से मुझे पता चला कि देवनगर मे बड़े दिन की शाम को बड़ा समारोह होता है और उसने अनुरोध किया कि मै जरूर ही उसमें भाग लूँ। उसने यह भी बताया कि उसने इस अवसर के लिए विशेष-रूप मे एक कविता लिखी है और वह उसे सुनायेगा। "हिन्दी की कविता यहाँ कोई समझता ही नहीं," उसने कहा, "तुम अकेले आदमी हो, जिसे अपनी कविता सुनाकर मुझे खुशी होती है।"

मेरा मन न जाने क्यों कहीं भी जाने को न हो रहा था। दिसम्बर के इन्हीं दिनों मे मेरी पत्नी बीमार हुई थी। शहर मे अखिल भारतीय प्रदर्शनी चल रही थी। कई दिनों से वह उसमे जाने को कह रही थी, किन्तु प्रदर्शनी नवम्बर के तीसरे सप्ताह मे शुरू हुई थी और वेतन सारे का सारा तब तक समाप्त हो चुका था। उसके पास चन्द एक रुपये जमा थे, पर उन्हें लेकर खर्च कर देने को मेरा मन नहीं हुआ। वेतन कुछ देर मे मिला, लेकिन जिस दिन मिला, उसी शाम घर पहुँचते ही मैने कहा—"प्रीतम, बस तैयार हो जाओ जल्दी, आज नुमाइश चलेंगे।"

"मैंने कितनी बार कहा कि मुझे प्रीतम न बुलाया करो," वह तिनकी—"प्रियतम तो तुम मेरे हो।"

"यह तो तुम अपने माता-पिता से कहो, जिन्होंने तुम्हारा यह नाम रखा। उनका दिया नाम बिगाड़ने वाला मैं कौन होता हूँ?"

"तुम मुझे पित्तो कहा करो, बस!"

"पित्तो तो कहता ही हूँ, पर कभी-कभी प्रीतम कहने को भी मन हो आता है। प्रीतम का मतलब है प्रिय—और इस शब्द में दोनों समा जाते हैं—पर तुम नाम की बहस छोड़ो, बस पलक झपकते तैयार हो जाओ।"

"थके आये हो, चाय का एक प्याला....."

लेकिन मैंने उसे बात नहीं ख़त्म करने दी। उसका हाथ थामे, लगभग खींचता हुआ सा मैं उसे अन्दर ले गया और ट्रंकों पर टिके बड़े शीशे के आगे उसे ले जाकर खड़ा कर दिया। फिर उसके बालों को हलके से थपथपाते और शीशे में उसके गालों को गुलाब बनते देख, मैंने कहा—"चाय-वाय सब वहीं होगी। बस तुम तैयार हो जाओ।"

मेरी बीवी छोटे-से क़द की थी, पर उसका रंग गोरा और तन सुडौल था। अंग-अंग उसका जैसे साँचे में ढला था। वह खड़ी होती तो उसकी कमर में हल्का-सा ख़म आ जाता—बिल्कुल जैसे अजंता की कोई युवती! मुस्कान और हँसी उसकी बड़ी प्यारी थी, क्योंकि दाँत प्यारे थे—न कोई ऊँचा न नीचा और सफ़ेद जैसे मोती! वह हँसती तो मैं प्रायः तान लगाता—

दन्द मोतियाँ दे दाने
न हस्स जान, डिग जाणगे।

वह और भी जोर से ठहाका मार देती और उसके दोनों गालों में हलके-हलके गढे बन जाते और मैं प्यार से उसे 'डिम्पल'* या 'डिम्प' कहकर पुकारा करता।

वह मुझे बड़ा प्यार करती। उस प्यार मे कुछ अजीब-सी ममता थी। क़द में वह मुझसे छोटी थी, पर उस वक्त अचानक बड़ी होकर जैसे वह मेरे सारे अस्तित्व पर छा जाती। मेरे रेशमी सुनहरे बाल और मेरे पतले ओठ उसे बड़े प्यारे लगते थे। कई बार वह उन्हे खोल देती और बाहों मे भर लेती। कहती—"इतना रेशम तुमने कहाँ से पा लिया ?" और मजाक करती कि मेरे दादा या नाना जरूर रेशम का व्यापार करते होंगे। उसे खेद था कि उसके बाल न मुलायम थे, न सुनहरे, न घुँघराले—रूखे और घने, जिन में मनो तेल लगाया जाय तो भी उस कोमलता का शतांश तक न आय जो मेरे बिना तेल लगे बालों में होती। वह अपने माता, पिता और भाई-बहनों के बालों का जिक्र करती कि किसी एक के बाल भी मेरे-जैसे न थे और कभी-कभी अपनी दो अँगुलियों से वह मेरे ओठों को प्यार से बिल्कुल ऐसे छूती जैसे किसी नन्हे से बच्चे के......

वह तैयार हो गयी तो मैं क्षण भर खड़ा उसे देखता रह गया। कानों मे उसने कोई गहना न पहना था, इस डर से कि भीड में कोई गहने के साथ कान भी न खीच कर ले जाय। केवल काले-पीले मोतियों के कर्णफूल उसके कानों मे लटक रहे थे। लेकिन उसके गोरे-गोरे मुख पर वे काले मोतियों के कर्णफूल....मैंने चलते वक्त

*** हँसते समय गालों मे बन जाने वाला हलका सा गढ़ा।**

कहा—"पित्तो, मैं तुम्हारा पति हूँ। जब तुम्हे देखकर मे ही चकित रह जाता हू तो दूसरों की न जाने क्या गति होगी ?"

"शरम नही आती तुम्हे ऐसी बाते करते," मुझे ठहोका देकर वह आगे निकल चली।

"नजर न लग जाय, बस यही सोचता हूँ," मैने कदम बढाते हुए कहा।

"इसीलिए तो पीले मोतियों के साथ काले पहने है !" वह हँसी।

पर न जाने कितनी नजरे उस मुखडे पर पडी कि वे काले मोती उनकी कुदृष्टि से उसे न बचा सके। लगभग आधा वेतन नुमाइश की भेट करके, खा-पी और खरीदकर, जी-भर ख़ुशी मनाने के नशे मे चूर, एक दूसरे की प्यारभरी नजरों पर जैसे झूलते हुए, जब हम घर पहुँचे तो प्रीतम ने कुछ सिर-दर्द की शिकायत की। "मेरा जी कुछ घुट-सा रहा है," उसने कहा। और उन्हीं कपडों समेत वह बिस्तर पर लेट गयी। कुछ देर बाद उसे कै हुई। कलाई पर मैने हाथ रखा तो वह बेतरह तप रही थी।

और जैसे प्याला जब लबालब भर जाता है तो छलक उठता है, मेरी ख़ुशी का प्याला भी छलक उठा। उस रात वह बीमार होकर जो बिस्तर पर पड़ी तो फिर नही उठी।

दिसम्बर की उन रातों मे बार-बार मेरे सामने बीते दिनो की उल्लासमयी स्मृतियाँ घूम जाती और मन कुछ अजीब-सी उदासी मे भर उठता। तीरथराम के जोर देने पर मै कहना चाहता था कि भाई जाओ, मुझे न छेड़ो, अपने इस अँधेरे एकान्त मे पड़ा रहने दो—यह फूल बाग़ मे खिला है, हवा की चचल बालाओं के सग मस्त झूमा है, तितलियों के रगीन ओंठ इसने चूमे है, ओस की आँखों में झाँका है

और ऊषा के स्पन्दनों से अपने दिल की धड़कनें मिलायी हैं, लेकिन अब यह डाली से टूटकर मुरझा गया है, इसपर आगत का गहरा कोहरा छा गया है। इसे चुपचाप पड़ा रहने दो, अकेलेपन के कोहरे भरे अंधेरों को इस पर छा जाने दो. . . .लेकिन मैं तो कवि नहीं था कि अपनी उदासी को इस तरह स्पष्ट व्यक्त कर पाता। मैंने केवल इतना कहा—"तीरथराम मेरा मन नहीं होता कहीं जाने को। तुम जाओ!"

लेकिन तीरथराम इस तरह कब माननेवाला था। मुझे बरबस वह ड्योढी मे ले गया और अन्यमनस्क-सा मैं कोने में बिछी एक आरामकुर्सी पर जा बैठा।

खाना क्योंकि ख़त्म हो चुका था, इसलिए डाइनिंग हाल मे जलने वाला वाला गैस ड्योढी मे आ गया था। देवनगर के सब वासी धीरे-धीरे उसमे आ इकट्ठे हुए। लेकिन कार्यक्रम उस समय तक रुका रहा, जब तक कि देवा जी नहीं आ गये। खाना खाने के बाद वे आध-एक घण्टा देवनगर की रविशों पर घूमा करते थे। वे प्रायः पहली बारी मे खाना खा लेते थे और जब तक तीसरी पाँत खाना समाप्त करती, वे घूमने से फ़ारिग हो जाते थे।

पूछने पर पता चला कि वे अब भी दिलजीत की प्रतीक्षा कर रहे है। वह उनका लड़का था। शहर के गवर्नमेण्ट कालेज में पढता था। बड़े दिनों की छुट्टियों मे आ रहा था और प्रतिपल उसकी प्रतीक्षा थी। सुबह से माता जी उसकी बाट देख रही थी, पर न जाने वह मित्रों मे उलझ गया था, या उसे कोई काम हो गया था कि उस समय तक वह आया न था।

बड़ी-बड़ी आँखें

देवसैनिक अपने परिवारों-समेत इकट्ठे हो गये थे, लेकिन देवा-जी अभी तक न आये थे। मै कोने की अपनी कुर्सी पर लगभग पीछे को लेटा मौन रूप से उन सबको देख रहा था—इतनी औरते और इतने आदमी किसी दूसरी जगह त्योहार के अवसर पर इकट्ठे होते तो न जाने कैसी हँसी-ठिठोली से हाल को गुँजा देते, पर देवनगर के वासियों से वैसी आशा नगर के सचालक को न थी। वैसी हँसी-ठिठोली तो आसुरी ठहरी। देवनगर के वासियों से तो सभ्य, संस्कृत, देवता-सुलभ हँसी-ठिठोली की अपेक्षा थी, शायद यही कारण था कि देवा जी के आने से पहले वहाँ जो बातचीत और हँसी-मजाक हो रहा था, वह बड़ा ही नपा-तुला, तकल्लुफ़-भरा और औपचारिक था.... कही अनौपचारिकता थी भी तो लगता था कि वह भी देववाणी का अग है—ऐसे अदा किया जाता था उसे......

"कहिए जीत जी," सेक्रेटरी साहब को अपनी पत्नी के साथ सीढ़ियाँ चढते देखकर सुदर्शनसिंह ने कहा, "दो ही बने रहने का इरादा है आपका क्या?"

जीत जी नीम-पागलों की तरह हँस दी। लेकिन उनके पति महोदय आयुर्वेद प्रेमी श्री खोसला साहब की ओर देखकर बोले—"खोसला साहब हमारी कुछ मदद ही नही करते। सिद्ध मकरध्वज आदि हमे भी खिलाये तो हम भी दो से चार हो जायें!"

इस पर एक हलका-सा ठहाका पड़ा और 'सिद्ध मकरध्वज खाओ तो दो से चार क्या, दस हो जाओ'—खोसला साहब का यह उत्तर किसी ने नही सुना।

"कहिए चक्रवर्ती जी," हरनामसिंह ने उनकी गंजी चाँद की ओर संकेत किया, "भृंगराज तेल कुछ लाभ कर रहा है कि नहीं ? खोसला साहब ने तो जान लगा दी उसे तैयार करने में।"

"कनपटियों के पास तो बाल काले हो रहे हैं," सुदर्शनसिंह ने कहा और हरनामसिंह की ओर देखकर अर्थ भरे ढंग से मुस्कराया।

"बस अब एक शीशी सिद्ध मकरध्वज की खा लें, बाल आने भी लगेंगे," सेक्रेटरी साहब बोले।

इस पर फिर एक हलका-सा ठहाका पड़ा।

इस टोली से हटकर चन्द मित्रों के साथ ज्ञानी दिलावरसिंह शिलांग के अपने फार्म के किस्से सुना रहे थे। वे पहले देवमण्डल के सेक्रेटरी थे, फिर देवा जी से आशीर्वाद लेकर आसाम में (जहाँ उनके एक सम्बन्धी की कुछ जमीन थी) देवमण्डल की शाखा खोलने की घोषणा कर चले गये थे। लेकिन मलेरिया ने चार ही महीने में उनका जोश ठंडा कर दिया था और आसामवासियों को देवता बनाने का मोह छोड़कर वे वापस आ गये थे। सुना जाता था कि अब वे फिर उसी पद को पाने के लिए लालायित हैं और सुबह-शाम देवा जी की अरदल में सैर को जाते हैं। आसाम-प्रवास उनका प्रिय विषय था और उन्हें जब समय मिलता था, उसकी कोई न कोई घटना सुनाते थे और जब कभी हँसते थे तो अपने दोनों ओर बैठे साथियों की बगलों में हाथ देकर जोर से 'हि हि,' 'हि हि' करते हुए अर्ध-विराम के स्थान पर उन्हें ऐसे झटके देते थे कि उनकी बाहें स्कंध-मूलों से उखड़ती-सी प्रतीत होने लगती थीं।

उनसे जरा हटकर देवनगर के एकाउण्टेण्ट मधवार साहब किसी

योगी की तरह निर्लिप्त बैठे थे और नन्दलाल और कुलबीरसिंह आपस मे कुछ मिमकौट कर रहे थे।

तीरथराम मुझे वहाँ बैठाकर चला गया था। ड्योढी मे बैठी किसी टोली के हास-परिहास या मिसकौट मे वह शामिल न हुआ था। एक-दो बार मैने ड्योढी से बाहर उसे इधर-से-उधर चक्कर लगाते देखा था। उसकी गति मे विह्वलता थी। शायद वह अपनी कविता दोहरा रहा था।

तभी देवा जी अपनी पत्नी, बच्चियों, देवनगर के भूतपूर्व स्वामी पडित हजारीलाल मिश्र, किचन तथा डेयरी के इचार्ज हरमोहनसिह के साथ आये। हरमोहन दूर के रिश्ते मे उनका भतीजा था, लेकिन उनकी तरह 'मोना' न था। वह सजी-सॅवरी दाढी और लम्बे-लम्बे केश रखता था, जो बडी मेहनत से बॅधी दस्तार मे बन्द रहते थे। दाढी को फीन लगा कर मुडासे से वह ऐसे बाँध बैठा था कि उसके गोरे मुख पर वह बडी सुन्दर लगती थी।

देवा जी के आते ही सब लोग खडे हो गये। वे बीच मे आकर बैठ गये। उनकी पत्नी, जो मोटापे की ओर को मायल, मझोले क़द की गोरी-गोरी स्त्री थी और अपने आपको देवनगर के साम्राज्य की एकछत्र सम्राज्ञी समझती थी, अपने पति के पास बैठ गयी। साथ ही दोनों लडकियाँ बैठी।

और तब सबके पीछे तीरथराम अन्दर आया और हाल के एक स्तम्भ से लगकर चुपचाप खडा हो गया।

मेरे साथ एक आरामकुर्सी खाली पडी थी, मैने तीरथराम को सकेत किया कि वह मेरे पास आ बैठे।

उसने हाथ के इशारे से बताया कि मैं बैठा रहूँ, वह ठीक है वही।

उस समय जब कार्रवाई का एजण्डा बन रहा था, देवाजी की बड़ी लड़की वाणी अचानक अपनी जगह से उठी और मेरे बराबर की खाली कुर्सी पर आकर बैठ गयी।

मैं तनिक सा चौंका और जरा-सा परे हट गया।

वह मेरी कुर्सी की बाँह पर झुक गयी और बड़े प्यारे, मीठे स्वर में धीमे से बोली—"सगीतजी आप बहुत अच्छा गाते हैं।"

"मैं बहुत अच्छा गाता हूँ?" मैंने जैसे उसी से प्रश्न किया।

मैं गाता भी हूँ, मेरा खयाल था कि देवनगर में किसी को यह बात मालूम नहीं। कभी किसी के सामने गाना तो दूर, मैं गुनगुनाया तक न था। और तो और तीरथराम तक को मेरे गाने का पता न था।

मेरा दायाँ हाथ कुर्सी के हत्थे पर टिका था और वाणी के यों मेरे पास आ बैठने की किंकर्तव्य-विमूढ़ता में वहीं टिका रह गया था। वाणी ने अपना नन्हा-सा, पतली-पतली सुकोमल अँगुलियों वाला, कलाकार के चित्र सरीखा हाथ, उसके पास रख दिया। वह धीरे-धीरे मेरे हाथ के इतना निकट आ गया कि मुझे लगा, यदि मैंने एकदम हटा न लिया तो मैं अपना हाथ उसके हाथ पर रख दूँगा।

और मैंने अपना हाथ हटा लिया और उसे अपनी पीठ पीछे कर लिया।

इस प्रक्रिया में मैं पीछे को झुक गया और मेरी आँखें ऊपर उठ गयीं। एक साथ मेरी दृष्टि देवा जी, हरमोहन और तीरथराम से मिली। वाणी के पिता, चचेरे भाई और तीरथराम को उसके यों

मेरे पास आ बैठने पर हैरत थी। देवनगर की खुली फ़िजा मे यह बात हैरत का विषय न थी, पर वह मेरे पास आ बैठी, इस बात पर उन्हे आश्चर्य्य था। यह ठीक है कि मुझे देवनगर आये तीन महीने हो गये थे और मै देवा जी के आदेशानुसार दूसरे घरों मे आने-जाने भी लगा था, पर नन्दलाल के घर को छोडकर मै कही भी न जाता था और वाणी से तो मेरा कभी साक्षात्कार भी न हुआ था।

यह सब जैसे एक निमिष मे हो गया। मेरी आँखों से मिलते ही जब उन्होंने आँखे फिरा ली और मैने फिर निगाहे नीची की तो वाणी ने मेरे प्रश्न के उत्तर मे मेरी ओर देखा।

उसकी वे निगाहे कैसी थी? सिर तनिक दायी ओर को और मुँह नीचे को झुका था। वही से वे मेरी निगाहों मे झाँक रही थी। नीचे को झुके मुख की वह ऊपर को उठी दृष्टि न जाने कैसे मेरे अन्तर तक उतरती चली जा रही थी।

'इसने इस छोटी सी उम्र मे कहाँ से ऐसे देखना सीख लिया?' धडकते हुए दिल से मै सोच रहा था और वह कह रही थी—"मैने कई बार सुना है आपको गाते। इस आशा मे कि आप गायेगे, मै गयी-गयी रात तक जागा करती हूँ। और फिर अचानक नमित रहकर भी उसी ऊर्ध्वगा दृष्टि से मेरे हृदय को बेधते हुए उसने पूछा—"आप दिन को कभी क्यों नही गाते?"

मै हँसा। "मै कोई गवैया नही," मैने कहा, "योंही जब कभी नीद नही आती, एक-आध बोल अलाप उठता हूँ। कोई सुनता भी है, यह जानता तो शायद न गाता।"

वह हँसी—"क्यों?"

लेकिन इससे पहले कि मैं उसे क्यों का उत्तर देता, देवा जी बोलने लगे थे।

"आज से साल भर पहले इस जगह, जहाँ हम मिलकर बड़े दिन की खुशी मना रहे हैं," उनकी गहर-गम्भीर, लेकिन मिठास और विश्वास से भरी आवाज गूँजी, "दिन को भी कोई न आता था और इस ड्योढ़ी के खण्डहर अपने पार्श्व में टूटी-फूटी फ़सील की भयानकता लिये हुए भायँ-भायँ किया करते थे। उन दिनों जब मैंने 'देववाणी' के कुछ अकों में 'देवमण्डल' और 'देवसेना' की योजना दी थी तो स्नेहियों ने इसके पक्ष और विपक्ष में दोनों तरह के विचार रखे थे। मैंने अपना मन्तव्य और भी साफ करके प्रकट किया तो स्नेहियों ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया था। मुझे आज एक वर्ष बाद भी एक स्नेही के पत्र की याद आती है। इतने मित्रों को मैंने वह सुनाया है कि मुझे लगभग सारे-का-सारा याद हो गया है। स्नेही ने लिखा था—'आपका कृपा-पत्र मिला, संशय दूर हुआ, कृपा कर देवमण्डल का झंडा जितनी भी जल्दी हो, खड़ा कर दीजिए।' और न केवल उन्होंने देवमण्डल के अविलम्ब अस्तित्व पाने की इच्छा प्रकट की, बल्कि बड़े अरमान-भरे ढंग से उसकी रूप-रेखा भी लिख भेजी। 'मन में बड़े-बड़े अरमान हैं", उन्होंने लिखा था, 'बड़ी हसरतें हैं। मजहबी झगड़े देखकर मन में विचार आता है कि कमर कसके उठ खड़े हों और इसान को इसान की पहचान करायें। अध-विश्वास का पाखण्ड चारों ओर फैला हुआ है। लोग दूसरों के साथ ही नहीं, अपने साथ भी धोखा कर रहे हैं। व्यापार गंदा करते हैं; वोट गलत डालते है; विद्या ऐसी देते हैं कि वह हमारे दिमाग़ों को रोशन करने के बदले तारीक बनाती है, हमारे दिलों को बड़ा करने के बदले सकुचित

करती है। यदि हमारी बुद्धि और बल को ठीक-ठीक विकास करने के साधन मिले तो हम समझदार, रोशन-दिमाग़ और उदार-हृदय हों। फिर तग मकानों के पास गन्दी नालियाँ न बहे, बागों की छाया में सुन्दर भवन हों, गरीबों मे घिरा कोई अकेला मालदार, चाँदी की ईटों को सिर पर उठाये, चोरो मे छिपना न फिरे, बल्कि सभी पेट भर खायें और विकास के सपने देखे। दिन चढे; किरणो के सुस्पर्श से लोग जागे; खुले माथे, मुस्कराती आँखों और फैली बाहों मे एक-दूसरे का स्वागत करे; प्रभात मे जगी चिड़ियो की तरह एक-दूसरे को बुलायें; हँसे-खेले और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार जीवन का उद्देश्य ढूँढे .....'

देवा जी का भाषण सुनते-सुनते अनजाने मेरा हाथ पीठ के पीछे से फिर कुर्सी के हत्थे पर आ गया था। सहसा मेने हलका-सा स्पर्श और उस स्पर्श से बिजली की-सी लहर अपने शरीर मे दौड़ती महसूस की। मेरा ध्यान बटा—देखा, वाणी निरन्तर मेरी ओर देख रही थी और उसका हाथ मेरे हाथ को छू रहा था।

मैंने अपना हाथ फिर पीछे कर लिया। सामने के स्तम्भ से लगे तीरथराम से मेरी आँखे चार हुई। वह निर्निमेष हमारी ओर देख रहा था—भौहे चढी और आँखे तनी थी और उसके चेहरे पर काला सा बादल घिर आया था।

और देवा जी कह रहे थे......

'स्वर्ग इस संसार पर उतर आये, यही बैकुण्ठ हो जाय और इसके पवित्र आनन्द ही से परमानन्द की प्राप्ति हो। लेकिन परमानन्द की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब अतिरिक्त बंधन न हों। न दिखावा हो, न धोखा हो। सहज-स्वभाव, सच्चे प्रेम और भक्ति की तरंगें उठें।

खूब अवकाश हो। अवकाश में आनन्द हो। भरे-पुरे अवकाश में ही ज्योतिष, हिकमत, इत्यादि का विकास हो सकता है।'

"उस स्नेही की चिट्ठी," देवा जी ने निमिष भर रुककर कहा, "मेरे ही अरमानों का प्रतिबिम्ब थी। मैंने देवमण्डल की स्थापना कर दी। लेकिन अपने और अपने स्नेहियों के उत्साह के बावजूद, मैं इस बात से अनजान न था कि हमारे देश में कुकरमुत्तों की तरह सिर निकाल कर अलोप हो जाने वाले मण्डलों, संघों, सभाओं, समाजों और संस्थाओं ने जनता को काफ़ी शक्की बना दिया है। पाठशालाओं, मन्दिरों, गौशालाओं और अनाथालयों को चन्दे देकर लोग थक गये हैं और इसीलिए हर नये आन्दोलन को टेढ़ी नजर से देखते हैं। लेकिन इस पर भी मैं जानता था कि जो कोई देवमण्डल की रूप-रेखा, उसके आशयों और उद्देश्यों पर विचार करेगा, वह जान लेगा कि मण्डल का आह्वान उन्ही आत्माओं के लिए है जो प्रीति के पखों पर उड़कर आसमान को छूने की साध रखती है। और मैं जानता था, जो एक बार भी स्वार्थ की कठोर धरती से उड़कर प्रीति के आकाश में दो चक्कर लगा आयेंगे वे बेक़रार हो जायेंगे कि भ्रमों में जकड़े, गरीबी के दलदल में फँसे भाइयों की आँखें मिट्टी से हटाकर सितारों की ओर लगा दें और यदि इस काम में उन्हे कुछ देना भी पड़े तो वे अपना सौभाग्य समझे। तब मैंने लिखा था कि इस मण्डल को चन्दे की चिन्ता नही। हमे एक ऐसा मण्डल बनाना है जिसकी हवा हलकी और पवित्र होगी, जिसके दरवाजे खुले और कुशादा होंगे, जिसमें साँस लेने वालों के दिल विशाल और उदार होंगे। यदि मण्डल में कोई खिचाव रहेगा तो आने वाला ठहरेगा, नही किसी दूसरी योग्य संस्था मे चला जायगा। और जो रहेगा, वह जो चाहे

देदे, और जो चाहे ले ले। मेरी अपील पर प्रीति के शैदाइयों ने, राक्षस-नगरियों में देवनगर क़ायम करने के सपने लेने वालों ने, मुझे अपने सहयोग का बल दिया और आज आपकी आँखों के सामने, इस देश में—जिसका हर कोना स्वर्ग था, इस देश मे जिसका हर कोना अब नरक है, पहला देवनगर क़ायम हो गया है। आज इस सुनसान खण्डहर मे मेरे और आपके सपने साकार हो उठे हैं. . . . !"

मैंने सुना था—देवा जी की लेखनी मे जादू है, पर उन्हे बोलते देखकर मैंने जाना कि लेखनी ही में नहीं, उनकी वाणी में भी जादू है। वे अपने उसी धीर-गम्भीर पर मिठास और विश्वास भरे स्वर मे बोले जा रहे थे और देव सैनिक, जैसे उनके मुख से निकलने वाले प्रत्येक शब्द को आँखों और कानों से पी रहे थे।

लेकिन वाणी बराबर मेरे चेहरे पर आँखें जमाये थी। और तीरथराम की निगाहे बराबर उस पर लगी थी। वाणी की उन झुकी-झुकी आँखों की ऊर्ध्वगा दृष्टि मे न जाने कैसा पैनापन था कि मैं उसका परस तक महसूस कर रहा था। उसी दृष्टि-स्पर्श से विवश होकर आखिर मैंने उसकी ओर देखा।

मुझे यों अपनी ओर देखने पर मजबूर करने की शक्ति से जैसे वह प्रसन्न हुई। उसके ओठों पर मुसकान की एक क्षीण-सी रेखा उदय होकर उसकी आँखों में फैल गयी।

"दार जी के भाषण के बाद आप गायेंगे?" उसने मेरी दृष्टि को अपने इस प्रश्न मे समो लिया।

लेकिन मेरी नजरे तीरथराम की ओर उठ गयी। उसके मुख पर छाया हुआ हलका स्याह बादल गहरी घटा बन चुका था।

.....और देवा जी बता रहे थे कि किस प्रकार अपने पाठकों से चन्दा माँगने के बदले जब उन्होंने उनके सामने अमली योजना रखी कि उन्हें ऐसे पाँच सौ स्नेही चाहिएँ जो अपने सौ-सौ रुपये दस वर्ष के लिए उनको दे दें और बदले में वे उन्हें दस वर्ष न केवल 'देववाणी' मुफ़्त पढ़ने को देंगे, बल्कि साल भर किताबें भी देंगे, तो किस प्रकार तीन महीने के अन्दर-अन्दर पाँच सौ नहीं, छः सौ ऐसे स्नेही उन्हें मिल गये थे।

उनका रुपया डूबेगा नहीं, अपने स्नेहियों को यह विश्वास दिलाने के लिए देवा जी ने साठ हजार का बीमा करा लिया—इस शर्त के साथ कि दस साल से पहले उनकी मृत्यु हो जाय तो उसका रुपया उन लोगों को मिल जाय।

तब देवा जी का इरादा शहर में एक प्रेस खोलने और देव-साहित्य का प्रसार और प्रचार करने का था, पर हाथ में साठ हजार रुपया आते ही एक दूसरा सपना उनकी आँखों में लहरा गया—देवमण्डल को केवल साहित्य द्वारा ही अपने विचारों का प्रसार नहीं करना चाहिए, बल्कि एक ऐसा नगर बसाना चाहिए, जहाँ देवमण्डल के सपनों को साकार किया जाय। दिल्ली के एक बिगड़े रईस से केवल बाइस हजार में वह ऊसर धरती उन्होंने मोल ले ली। परकोटे की ईंटों से बाहर पक्की, पर अन्दर से कच्ची, लेकिन खूब लिपी-पुती दस कोठियाँ बना ली। उनके चित्र 'देववाणी' में छाप दिये और 'देववाणी' द्वारा अफ्रीका, अमरीका, मलाया और बर्मा के अमीर, लेकिन वहाँ की स्वार्थभरी पूँजीवादी फिज़ा से ऊबे हुए अपने हिन्दुस्तानी पाठकों से अपील की कि वे देवनगर के आदर्श वातावरण में एक-एक कोठी बनायें; छुट्टियों के दिन वहीं गुज़ारें और रिटायर होकर वहीं निवास करें।

"हमारे कंधों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है", देवा जी कह रहे थे, "देवनगर में हमें एक ऐसा आदर्श वातावरण उत्पन्न करना है कि बाहर का जो स्नेही एक बार यहाँ आकर कुछ दिन रहे, वह उन चन्द दिनों की याद को फिर कभी न भुला सके। आओ, आज के शुभ दिन हम फिर अपने इरादों को पक्का करें कि इस दुनिया में सचमुच का देवनगर बसाने के अपने सपने को हम साकार कर दिखायेंगे!"

और तालियों के शोर में वे बैठ गये।

इसके बाद ज्ञानी दिलावरसिंह और सेना के मंत्री गुरबचनसिंह ने देवमण्डल के संचालक को विश्वास दिलाया कि देवसैनिक उस सपने को सच्चा कर दिखाने में अपनी-सी कर देंगे। जिस नगर की नींव उन जैसे महान द्रष्टा के हाथों से पड़ी है, वह क्यों न देश में एक आदर्श नगर साबित होगा।

इन भाषणों के बाद मंत्री ने तीरथराम से प्रार्थना की कि वह अपनी कविता सुनाये।

लेकिन तीरथराम ने कहा कि उसकी तबीयत ठीक नहीं और वह उसी तरह उमड़ा-घिरा स्तम्भ से लगा खड़ा रहा।

मंत्री ने जोर दिया कि उसने तो इसी अवसर के लिए कविता लिखी थी।

"लिखी थी, पर मेरा सिर बेतरह दर्द कर रहा है।" तीरथराम बोला और उसने वाणी की ओर करुण निगाहों से देखा। मुझे विश्वास है, यदि वाणी एक बार भी कह देती—'तीरथजी आप सुनाइए न कविता,' तो तीरथ के चेहरे पर घिरी हुई घटाएँ छट जातीं और वह प्रफुल्लित होकर चहकने लगता, पर वाणी ने उससे कविता पढ़ने

का अनुरोध करने के बदले अपने पिता से कहा—"दार जी, संगीत जी से कहिए, गाना सुनायें। बहुत अच्छा गाते हैं ये।"

निमिष भर के लिए मेरी निगाहें तीरथराम की ओर उठीं। मैं उसकी दृष्टि का मुक़ाबला न कर सका, पर तभी मैंने अपने आपको लगभग सारी सभा की निगाहों का केन्द्र पाया।

"दार जी, कहिए न संगीत जी से गायें, ये बहुत अच्छा गाते हैं," वाणी जाकर अपने पिता से चिमट गयी।

तब तीरथराम स्तम्भ से हटा और चुपचाप बाहर निकल गया।

देवा जी ने कहा—"हमें तो मालूम ही न था कि आप गाते भी हैं, सुनाइए न कोई गाना।"

मैं कुर्सी से उठा—"जी, मैं तो बिल्कुल नहीं गाता।"

"नहीं दार जी, यह गाते हैं। मैंने अपने कानों से सुना है। परसों रात ये अपने कमरे में गा रहे थे। बड़ा ही मीठा स्वर है इनका।"

मैं सिर्फ़ वही एक गाना—दन्द मोतियाँ दे दाने—कभी-कभी गाया करता था। उसे इन सबके सामने सुनाना अपने घाव को बीच बाज़ार छेड़ने के बराबर लगा। लगा जैसे मैं अपने निजी भेद को उन सब की अपात्रता के आगे रखने जा रहा हूँ। लेकिन मैं नौकर था। वह भी नया-नया। देवा जी ने फिर अनुरोध किया। तब लगभग हकलाते हुए मैंने कहा :

"मैं कभी नहीं गाता। कम-से-कम किसी दूसरे के सामने तो नहीं। लेकिन आप लोगों का अनुरोध है तो मैं सुना देता हूँ। एक ही गाना मुझे आता है, शहरों के गुण्डे इसे गाते हैं, इसलिए मुझे और भी संकोच होता है, लेकिन इस गाने के बोल एकदम मेरे अपने निजी

बन गये हैं और अपनी ज़रूरत के मुताबिक मैंने इनमें फेर-बदल कर दिया है।"

इतना कहकर मैं गाने लगा:—

दन्द मोतियां दे दाने
न हस्स जान, डिग जाणगे
ओ तेरे दन्द मोतियां दे...
लायी ऐ नज़र किस डाढ़ी
सुफ़नियां च ज़हर बो दित्ता
ओ जान लायी ऐ नज़र..

तोड़ के प्रीताँ जानिए।
सानूँ वी कोई राह दस्स जा
ओ, तोड़ के प्रीताँ...

प्रीतम की हँसती हुई मोतियों की वह बत्तीसी मेरी आँखों मे घूम गयी और फिर धीरे-धीरे मैंने उन्ही मोतियों को मन्द होकर अपनी आब खोते पाया....मेरी सोने की वह दुनिया कैसे उजड़ गयी, क्यों उजड गयी....और मै करुण स्वर में चिल्ला उठा—

तेरे हत्थ की रबा आया दस्स दे,
उजाड़ मेरी सोन-दुनिया?

गीत ख़त्म हो गया। मैंने वाणी को रूमाल मे अपने आँसू पोंछते देखा। लेकिन मै वहाँ नही रुका। मुडा और डयोढी से बाहर निकल गया। आवाज़ मेरी भर आयी थी। वहाँ रहता तो मैं सचमुच रो उठता।

बाहर आधा चाँद आसमान मे सिमटा अपनी मटियाली चाँदनी फैला रहा था। आकाश से धरती तक छाये हलके-हलके कोहरे ने उसकी ज्योत्स्ना को और भी मन्द कर दिया था और सामने 'बनौली' के पेड़ अंधकार की मटियाली दीवार पर बडे-बडे धब्बे-से लग रहे थे। ग़जब की सर्दी थी और देवनगर के पेड़-पौधे और रविशें जैसे सन्न होकर सर्दी मे ठिठुर गयी थी।

मेरा ख़याल था कि अपनी आकुलता को तीरथराम उन रविशों पर घूम-घूम कर मिटा रहा होगा। लेकिन जब पूरे देवनगर का एक चक्कर लगाने पर भी कही उसका निशान न मिला तो मै उसके कमरे में गया। दरवाज़ा बन्द था, पर कुडी नही लगी थी। धीरे से मैने उसे खोला—अन्दर मेज पर लैम्प जल रहा था और अपनी चारपाई पर तीरथराम औंधे मुँह लेटा हुआ था।

"तीरथराम!"

"मेरी तबीयत ठीक नही, संगीत! इस वक्त तुम जाओ!"

उसकी आवाज भर्राई हुई थी। मैने सोचा चारपाई पर बैठकर उसकी पीठ थपथपाऊँ, उसका सिर दबाऊँ, उसके किसी काम आऊँ। लेकिन मै जानता था, मेरी हमदर्दी उसके जले पर नमक छिड़कने के बराबर होगी। मेरा अपना मन ठीक न था, इसलिए मुझमें उसकी ज़रा-सी बात सहने की शक्ति न थी। तो भी मैने एक बार कहा—

"कहो तो एस्प्रो लाऊँ?"

उसने जवाब नही दिया। उसी तरह औंधे मुँह लेटा रहा।

मै पलटा। धीरे-से मैने किवाड़ भेड़ दिये और मै बाहर निकल आया।

चाँद ऊपर उठ आया था। ज्योत्स्ना ओस की तरह निःस्वन झर रही थी। कुछ ऐसा मौन चारों तरफ़ छाया था कि किसी पत्ते के हिलने या कुत्ते के भौंकने की आवाज भी सुनायी न दे रही थी। डचोढ़ी ख़ाली हो चुकी थी। देवता अपने-अपने बिस्तरों की नर्म-नर्म गर्मी मे दुबक गये थे, लेकिन मै ओवरकोट को अपने सीने से दबाये चुपचाप देवनगर की सड़कों पर घूम रहा था। जाने इस समय कोई जाग भी रहा था या नही ? शायद तीरथराम जाग रहा था। अपनी चारपाई पर पड़ा करवटें बदल रहा था या शायद लैम्प के आगे झुका कागजों पर अपने दिल का गुबार निकाल रहा था और शायद वाणी भी.... क्या वाणी जाग रही है ? जाग रही है तो क्या कर रही है ? ....शायद अपने बिस्तर पर लेटी चुपचाप छत को ताक रही है !.... .शायद उसके कान मेरी आवाज़ की ओर लगे है ! ....और अचानक रात के उस सन्नाटे, उस फैलते कोहरे और सिमटी चाँदनी में अचानक मै गा उठा—दिल के सारे दर्द और गले की पूरी आवाज के साथ—

दन्द मोतियाँ दे दाने
न हस्स जान, डिग जाणगे।

लेकिन जैसे अचानक मै गा उठा था, वैसे ही अचानक मौन हो गया। पित्तो के हँसते हुए मोती मेरी आँखों के आगे कौंध गये।

दिशाओं मे मेरी आवाज की गूँज अभी थर्रा रही थी कि मै मुड़ा और अपनी कोठी की ओर चल पड़ा।

———

वाणी, जिसे मैं केवल बारह-तेरह बरस की समझता था, वास्तव में पन्द्रह-सोलह साल की लड़की थी। छोटे क़द की पतली, दुबली, बीमार-बीमार-सी ! बोलती तो उसके मुख पर कुछ अजीब सा सहम भरा लुभावनपन आ जाता और आँखे कुछ ऐसे फैल जाती कि जी को कुछ होने सा लगता। जब पहले दिन मैं देवनगर आया था और अपने पिता का आदेश पालने की उत्सुकता में वाणी फुदकती हुई सी अपनी छोटी बहन के साथ दरवाज़े मे आ खड़ी हुई थी तो मैंने उसकी ओर ध्यान भी न दिया था। वही चाय लायी थी, लेकिन उसमें कोई भी ऐसा आकर्षण न था कि देवा जी की बाते सुनते या उन्हें अपनी बातें सुनाते समय

मेरा ध्यान उसकी ओर चला जाता। इसलिए यह ठीक ही था कि जब मैं तीरथराम की प्रेयसी की तलाश में देवनगर के घर-घर घूमा तो वाणी की ओर मेरा ध्यान भी नही गया। लेकिन उस शाम के बाद वह नन्ही बीमार-सी लड़की अचानक मेरा ध्यान खीचने लगी।

डाइनिंग हाल मे खाना मै पहले भी खाता था और कई बार उस पाँत में भी खाता था, जिसमे देवा जी और उनका परिवार रहता। लेकिन उस घटना के बाद दूसरे दिन जब मै दोपहर का खाना खाने गया तो अचानक मेरी आँखे अगली मेजों की ओर उठ गयी, जहाँ प्राय: देवा जी आकर बैठते थे। देवा जी नही थे, न उनकी पत्नी थी— शायद वे पहली पाँत मे खाना खा गये थे— लेकिन दूसरे बच्चों मे घिरी वाणी बैठी थी। मैंने निगाह उठायी तो मौन रूप से उसे अपनी ओर तकते पाया। नजर मिलते ही उसने आँखे झुका लीं, लेकिन जब मैंने फिर उसकी ओर देखा तो मेरी निगाहे फिर उससे जा मिली।

खाना समाप्त करते-न-करते कई बार उसकी और मेरी निगाहे चार हुई, लेकिन जब खाना खतम करके अपनी प्लेट को रसोई के बाहर नल पर रख, मै चला तो अपनी मूर्खता पर मुझे अनायास हँसी आ गयी। यह तीरथराम के दु:ख का निदान करते-करते मैं स्वय किस बीमारी मे फँसता जा रहा था? और लगर से अपने कमरे तक आते-आते मैंने तय कर लिया कि यह सब मै तीरथराम के लिए ही छोड़ दूँगा। मै शान्ति चाहता हूँ, जिसमे कुछ पढ सकूँ, समझ सकूँ—यह आसक्ति— वह भी मन की इस स्थिति मे—मेरे बस की बात नही!

मै नही जानता, पित्तो जैसी सुन्दर लड़की होती तो मेरा मन क्या कहता ? क्या वैसे ही ठडे दिल से, निष्पक्ष भाव से सोचता रह सकता ? शायद नही, या शायद हाँ। क्योंकि अव्वल तो पित्तो जैसी सुन्दर लड़कियाँ आम नही होती, फिर कोई वैसी सुन्दर हो भी तो वैसी समझदार होगी, इसका क्या ठिकाना है !

लेकिन उस ओर से हटा लेने पर भी मन दूसरी ओर नही लगा। क्षण भर बाद फिर सोचने लगा कि वाणी मेरी ओर क्यों खिची ? मै तो उसके घर भी ज़्यादा नही गया। कही ऐसी जगह नही बैठा, जहाँ वह भी हो। तो क्या रात की तन्हाइयों मे मेरे वे दर्द भरे बोल ही उसके खिचाव का कारण न थे ? शायद हों, पर मै जानता था कि मेरी सूरत को भी उसमे कम दखल नही। तीरथराम मेरे पतले-छरहरे शरीर पर चाहे हँसे, लेकिन सभी उस पर हँसते हो, ऐसी बात न थी। अपने हमजोलियों मे मै सुन्दर समझा जाता था। पित्तो स्वय कहती थी कि मुझमे बड़ा आकर्षण है और उसकी सहेलिया उसके भाग्य से ईर्ष्या करती थी।

मै सीधा कमरे मे गया और जाकर शीशे के सामने खड़ा हो गया। वही गहरी, भूरी-भूरी आँखे, पतले-पतले ओठ, गोरा रग, जरा-ज़रा से धँसे कल्ले और छोटी-छोटी दाढी-मूछे, जिन्हे मैने बड़े जतन से बैठा रखा था। कितनी ही देर तक मै विमुग्ध-सा अपनी सूरत देखता रहा। फिर अचानक मैने सिर से पगड़ी उतार कर चारपाई पर फेक दी। मेरे सुनहरे बालों का जूड़ा धूप में चमक उठा। माथे पर पगड़ी के कारण एक निशान बन गया था। दो-चार बार मैने उसे मला। दाढी के मुलायम बाल मुँडासे से कसे सुन्दर

लग रहे थे। कल्लों के गढे उनसे भर गये थे और मेरे गोरे रंग और तीखे नाक-नक्शे पर दाढी-मूँछे बड़ी अच्छी लगती थी। मुँह पर, माथे पर और सिर पर दोनों हाथ फेरते हुए मैंने लम्बी साँस भरी, ज़ोर की अँगड़ाई ली और चारपाई पर जा लेटा। इस लड़की ने एक ही निगाह से मुझे कैसी परेशानी में डाल दिया था......?

लेकिन मै अपने फ़ैसले पर अडिग रहा। रात मै सबसे अंतिम पाँत में खाना खाने बैठा, वह भी उस जगह, जहाँ गैस की रोशनी कम जाती थी।

इसके बाद लगातार तीसरी पाँत मे जाने लगा और सबसे अंत में बैठने लगा। किन्तु शाम को कोठियों के सामने की अपेक्षाकृत पक्की सड़क पर या बाग की रविशों पर अनायास वाणी मेरे सामने पड़ जाती। मै निगाहे झुका लेता या दूसरी ओर देखने लगता। अपने ध्यान को उधर से हटाने के लिए मैंने काम की मात्रा बढा दी-- देवा-जी की आठ-दस कहानियाँ उल्था कर डाली। उन कहानियों को पढ़ते और उनका अनुवाद करते हुए सहसा एक बात मुझ पर स्पष्ट हो गयी। कई दिन से मैं सोचता आ रहा था कि इस जरा-सी लड़की ने इस उम्र मे इन आँखों से देखना, इन मीठे शब्दों में बोलना, इस मनमोहक ढंग से मुस्कराना कहाँ से सीख लिया? देववाणी की फ़ाइले पढते-पढ़ते यह राज मुझपर खुल गया-- वाणी ने अपने पिता की कहानियों से यह सब सीखा था। देवा जी ने बीसियों दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक लेख लिखे थे--ऐसी पुरअसर, प्रभावमयी, प्रवहमान भाषा और शैली में कि उनसे मतभेद रखने वाला भी

प्रभावित हुए बिना न रहता। लेकिन इन लेखों के अतिरिक्त उन्होंने बीस-तीस कहानियाँ भी लिखी थीं। अति भावुक, रोमानी आदर्श-प्रेम से ओत-प्रोत ! . . . . . . .आज इतने वर्षों के बाद भी मैं मानता हूँ कि देवा जी की लेखनी मे अपूर्व आकर्षण था। उनमें शब्दों के सही चुनाव और नाजुक भावों को व्यक्त करने की, अपने पाठक को अपने साथ आदर्श-प्रेम के ऊँचे, वायवी वातावरण में उठा ले जाने की, उसके पाँव धरती से उखेड़ देने की, अपूर्व प्रतिभा थी। हिन्दी शब्दों की क्लिष्टता के कोने रेत कर, उन्होंने पंजाबी में उन्हें ऐसे मिला दिया था कि उस भाषा में अपूर्व मिठास आ गयी थी। उनके नायक अपनी नायिकाओं को सदा बड़े मीठे शब्दों में बुलाते थे— बल्लिए, चन्निए, बीबिए, गोरिए— और जब वे प्रेम की भावना मे अभिभूत होते थे तब बड़े प्यार और सत्कार के साथ केवल उनका हाथ छूते थे और प्रायः जब अपने आदर्श या कर्त्तव्य से प्रेरित हो (अपनी प्रेमिका के प्रियजनों अथवा अपने माता-पिता के दुख या विरोध के कारण) अपनी प्रेमिका से विवाह-सम्बन्ध न कर पाते थे तो आजीवन कुँआरे रहकर अपनी कुँआरी मुहब्बत की रक्षा करते थे। देवा जी की उन कहानियों का प्रेम निराला था— यथार्थ से कहीं दूर, भावना के सहारे जीवन के सागर मे तैरने और कभी ग़ोते न खाने वाला अभिन्न, अडिग, अडोल प्रेम !

वाणी ने छुटपन से ये कहानियाँ पढी थीं और तभी से उसने उस प्रेम के सपने देखे थे। उन्ही कहानियों की नायिकाओं से उसने देखना, बोलना, हृदय की भावनाओं को आँखों में भरना और अपने सामने बैठे व्यक्ति के हृदय मे अपनी दृष्टि को उतार देना सीखा था।

'इस लड़की ने जरूर कभी तीरथराम को जाने-अनजाने अपनी इन आँखों से देखा है और उसके हृदय में (जो शरीर की लम्बाई-चौड़ाई के बावजूद कवि-सुलभ-सुकोमल है) ऐसा मीठा घाव कर दिया है कि वह उसे सब की आँखों से छिपाये पाल रहा है', मैंने सोचा ......यह अजीब बात है कि बड़े दिन की उस शाम के बाद तीरथराम ने मेरे यहाँ आना बिल्कुल बन्द कर दिया था। दूसरे ही दिन सुबह मैं उसके यहाँ गया था, लेकिन वह उससे भी पहले कदाचित नदी की सैर को निकल गया था। देवनगर के उत्तर-पूर्व में एक बड़ा रजबहा था। सब उसे नहर कहते थे। तीरथराम देवनगर की रविशों पर घूमने के बदले सुबह-शाम रजबहे पर घूमता, गीत बुनता और शायद लम्बी साँसें भरता। न जाने उस नदी तट के वीराने में उसकी कितनी गर्म साँसें आवारा घूम रही थी? एक दिन सुबह वह मुझे मिल गया। मैं दूध पीने किचन को जा रहा था। "आओ चलें" — मैंने उसे आमंत्रण दिया।

"मैंने दूध पीना छोड दिया है।"

"क्यों?"

"बडा मोटा हो रहा था। और आजकल जमाना पतले-छरहरों का है।" और लम्बी साँस को दबाते तथा मेरी ओर कुछ अजीब व्यंग्य-भरी दृष्टि से देखते हुए वह चला गया।

बेचारा तीरथराम! .....लेकिन उसकी बेचारगी पर विचार करते हुए सहसा मुझे अपनी स्थिति बड़ी अजीब सी लगी। यदि तीरथराम को वाणी से प्रेम न होता और वाणी ने कभी उसकी ओर देखा न होता, तो वह यों अचानक मेरे यहाँ आना न छोड़ देता। कही ऐसा तो नही कि तीरथराम और वाणी में थोड़ा—चाहे दृष्टि-

विनिमय अथवा मुस्कानों के आदान-प्रदान तक सीमित—प्रेम हो, और तीरथराम को पहले ही इसका आभास हो गया हो कि वाणी मेरी ओर खिंची है। हो सकता है वाणी ने उससे मेरे बारे में कुछ पूछा हो और इसीलिए सारे देवनगरियों में वही मुझसे चिमटा रहता हो। मेरे शरीर के छरहरेपन या मेरे बालों की बगालिनों सी लम्बाई या मेरे ओठों के औरतों-के-से कट को लेकर उसके मज़ाक करने की तह में क्या उसका अपने आपको यह तसल्ली देना तो न था कि वाणी उसके इस हृष्ट-पुष्ट, कसरती, सुगठित शरीर को तज कर मुझ जैसे पतले छरहरे-से सिख की ओर आकर्षित नहीं हो सकती। और जब बड़े-दिन के उस उत्सव की रात को उसने देख लिया कि वाणी मेरी ओर आकर्षित है तो उसने अचानक मेरे यहाँ आना छोड़ दिया।

मेरे बारे में देवनगर में जो तरह-तरह की बातें उड़ गयी थीं, क्या उसमें तीरथराम ही का तो हाथ न था? ......और यह खयाल आते ही मेरे मुँह का जायका कड़ुवा हो गया। कब दूध पी गया, वह मीठा था, फीका था गर्म था या ठंडा था, इसका कुछ ध्यान नहीं रहा। सुबह को सर्दी में डाइनिंग-हाल के बराण्डे में धूप की ओर पीठ किये, गर्म दूध पीना, चिलगोज़े या मूँगफली गटकना मुझे बड़ा प्रिय था। लेकिन उस दिन लगा जैसे अनुभूति की सारी शक्तियाँ उस चिन्ता के आगे बेकार हो गयी हैं। गिलास को किचन के बाहर नल के आगे फेंक कर मैं चला तो तीरथराम की कई ऐसी बातें जिनकी ओर मैंने ध्यान न दिया था, नये रूप में मेरे सामने आयीं और मैं परेशान हो उठा। लेकिन कमरे में पहुँच कर मैंने बरबस अपने मन को उधर से हटाया और देवा जी ने जो नये लेख दिये थे, उनमें से एक के

अनुवाद में निमग्न हो गया। एक-दो बार मन भटका, लेकिन फिर देवा जी की लेखनी के प्रवाह में वह चला......

"जो सुख छज्जू दे चौबारे
ओह न बलख़ न बुख़ारे"

प्रसिद्ध पंजाबी सूफी कवि छज्जू के बोल से लेख शुरू करके देवा जी ने लिखा था :

"बलख और बुखारे में क्यों छज्जू को अपने चौबारे जैसा सुख नहीं मिलता? क्योंकि बलख या बुखारे में छज्जू या गुलाम होगा या मेहमान, पर अपने चौबारे में उसका अपना राज है! इस चौबारे में बलख के गालीचे नहीं और न बुखारे की मेहमान-नवाजियाँ हैं, पर इसमें छज्जू जब चाहे आ सकता है, जिस दीवार पर चाहे खूटियाँ गाड़ सकता है और जिस खिड़की में से चाहे झाँक सकता है। उसे इस चौबारे की कुंजी किसी से लेनी नहीं और न इसमें रहने के लिए किसी का आभार मानना है।

"अंग्रेज कहता है, तुम्हारा चौबारा ठीक नहीं, मैं इसे ईंट-पत्थर का नहीं, संगमरमर का बनाकर तुम्हें दूँगा, इसे डाकुओं का डर है, मैं न रहा तो तुम लुट जाओगे—मैं इसे मजबूत बनाकर तुम्हें सौपूँगा। हम कहते हैं कि महाराज, जीर्ण तो जर्जर तो जैसा भी है, यह हमें पसन्द है, हम इसे लेकर रहेंगे। आक्रमणकारियों का खतरा है, हम उसे सह लेंगे, आपको इसकी चिन्ता क्यों हो? घने जंगलों में क्या वहाँ के पशुओं को भूख या बाघ का डर नहीं होता, पर क्या वे अपने अरक्षित स्थानों को छोड़कर आपके भरे-पुरे

सुरक्षित स्थान पसन्द करते है? कोई बड़े से बड़ी पनाह भी पराधीनता को सुखकर नही बना देती। इंसान की आत्मा जन्म तक का बन्धन स्वीकार नही करती। उसकी अन्तिम मांग मुक्ति है।"

इस तरह स्वराज्य की जरूरत बताते हुए देवा जी ने उन आन्दोलनों का उल्लेख किया था जो देश की नर्म या गर्म पार्टियां देश मे चला रही थी और लिखा था कि आजादी के स्वर्ण-मृग ने उनका अपना मन भी मोह रखा है, वे भी देश को आजाद और खुशहाल देखना चाहते है, लेकिन उनका रास्ता दूसरा है। कांग्रेस और गर्मदल अपने-अपने आन्दोलन चलाये, लेकिन स्वयं वे समझते है कि देशवासी अभी स्वराज्य के योग्य नही और उनको इसके योग्य बनाने का काम भी उतना ही अहम है जितना स्वराज्य प्राप्त करने का।

"पोलिटिकल आन्दोलन भी चलते रहें," उन्होंने लिखा था, "पर एक ग्रुप आज़ादी के ऐसे दीवानों का भी होना चाहिए जो अपने भाइयों में जाकर उन्नति का संदेश दे; उनकी जिन्दगी को संवारे; सरल-साहित्य प्रकाशित करे; भ्रम दूर करे; भाई को भाई से अलग करने वाले धर्म की जगह सच्चे, शाश्वत और साझे ईश्वरीय धर्म का प्रचार करे। हमारी बीमारियाँ अगनित है—बुरी रस्मे, अशिक्षा साम्प्रदायिकता, पक्का हो जाने वाला दास-स्वभाव, बेसमझ जातियां, चारदीवारी में बन्द निकम्मी करके बैठा दी गयी स्त्रियां, बेपरवाही का शिकार रुलने-बिलखने वाले बच्चे—यह लिस्ट बड़ी लम्बी है, लेकिन हमें काम मे जुट जाना है और जितनी भी बुराइयाँ हम दूर कर सकें, करके देशवासियों को आजादी के योग्य बनाना है। याद रखिए कि आप बड़े बुद्धिमान हों या आपका धन अपार हो, आप निर्भीक हों या व्यक्तिगतरूप मे स्वतन्त्र, पर जब तक आपके

इर्द-गिर्द भूख, नंग, अशिक्षा और ग़रीबी है, आप कभी सुखी नहीं रह सकते......"

और मेरे सामने देवनगर के रूप मे देवा जी का सपना घूम गया। सच ही उन्होंने अपने आदर्श के अनुसार देवनगर को बनाया था—खुली-खुली फिजा, खुले-खुले एक-दूसरे की सहायता, एक दूसरे के प्रोत्साहन को लालायित वासी। औरतों को किचन की गुलामी से उन्होंने नजात दिला दी थी। वे अपने समय को उपादेय कामों में लगा सकती थी, आजादी से हँस-बोल सकती थी। बच्चों के लिए वे प्रैक्टिकल स्कूल खोलने जा रहे थे, जहाँ बच्चे अपनी रुचि के अनुसार अमली शिक्षा पायें। जहाँ से शिक्षा पाकर वे निकले, तो इस विभाग या उस विभाग, इस व्यवसाय या उस व्यवसाय में ठोकरे खाने के बदले, किसी तरह की दुविधा या उलझन के विना अपने मन-चाहे विभाग या व्यवसाय मे जगह पाये और देश के जीवन को बिगाड़ने के बदले उसे सजाये, संवारे और समृद्ध बनायें। स्कूल की नीव पड चुकी थी और नये साल ही मे देवा जी उसे चालू कर देने की सोच रहे थे।

......उन लेखों को पढते-पढते देवनगर मुझे कल्पना की स्वप्निल घाटियों मे उडते-उडते धरती पर उतर कर रम जाने वाले स्वप्न सरीखा लगा—जब देश आजाद होगा तो हर सूबे मे ऐसे बीसियों नगर-उपनगर बस जायेंगे और जिन्दगी खुली कुशादा, स्वच्छ और सस्कृत होगी।

खाने की घटी दो बार बज चुकी थी, पर मै काम मे ऐसा रत था कि नही उठा। तीसरी और अतिम पाँत की घंटी जब बजी तो मै

उठा। दिमाग मे अभी तक देवा जी के शब्द गूँज रहे थे। एक वृद्ध को जो देवमण्डल मे आना चाहता था, पर अपने बुढापे से डरता था उन्होंने लिखा था—

"देवमण्डल सच ही जवानों का मण्डल है, पर जवानी सिर्फ़ छोटी उम्र का नाम नही। जवानी उस मानसिक अवस्था का नाम है, जिसमे से नवीनता की चाह खत्म न हो गयी हो। काले बालों की कोई शर्त नही, पर गर्म लहू की शर्त जरूर है। ठडा लहू इस मण्डल मे हरकत न कर सकेगा। न कदम मिला सकेगा न चल सकेगा। ख़तरों से निडरता, होनहार मे मिलने का उत्साह, धन की उपेक्षा, शारीरिक सुखों की ओर से लापरवाही, चिन्ताहीनता, हवाई किलों में विश्वास, सपनों से प्रेम, उल्लसित मन और मुस्कराते ओठ—देवमडल के साथ चलने की पहली शर्त ह......"

और मुझे लगा जैसे मेरी नसों मे नया—एकदम गर्म लहू दौड़ने लगा है, मेरा व्यक्तिगत दुख क्षण भर को उस गर्म खून की रवानी मे बहने लगा है और मै देवा जी के साथ ही सपने देखने लगा हूँ, क़दम से कदम मिला कर चलने लगा हूँ......

......सामने से तीरथराम आ रहा था—दोनों हाथों को बगलों मे दिये, सिर झुकाये, जाने किन चिन्ताओं मे लीन! 'इसके मन का उल्लास कहाँ गया? देवनगर की इस खुली फिजा मे यह क्यों अपने आप मे सिकुड़ गया है?' मैंने मन ही मन कहा और जब वह मेरे पास से गुजरा तो मैंने अपने उल्लास मे पुकारा—"सत श्री अकाल तीरथ भाई।"

वह रुका और जैसे कही बहुत दूर से उसने मेरे अभिवादन का उत्तर दिया।

"किस सोच में गर्क हो? किधर रहते हो? तुम्हारे यहाँ जाता हूँ तो मिलते नहीं, मेरे यहाँ आते नहीं।" मैं अपने उल्लास में पूछ गया।

"इधर कुछ मेहमान ज्यादा आ गये हैं, उन्हीं की आव-भगत में लगा रहता हूँ। आऊँगा।"

और उसने क़दम बढ़ाया। लेकिन मेरे उल्लास का जोश उस एक ही ठंडे छींटे से क्या बैठता। मैंने मुड़कर पूछा—"कविताएँ कैसी चल रही हैं आजकल?"

"लिख रहा हूँ, सुना दूँगा।"

इस वार तीरथराम ने मुड़ना भी उचित नहीं समझा। गहरे-गम्भीर, उमड़े-घिरे बादल सरीखा वह बढ़ता चला गया।

देवा जी के लेखों के आकाशीय सपनों में विचरता मेरा मन, इंजन खराब हो जाने वाले हवाई जहाज़-ऐसा तेज़ी से धरती की ओर गिर चला।

लेकिन किसी बड़े ही कुशल चालक की तरह मैंने उसे रोक लिया। 'देवा जी ने तो कहा था कि तीरथराम को लोग पसन्द नहीं करते।' मैंने सोचा—'शायद वह इस खुली फिजा में पनप नहीं पा रहा है, इसीलिए घुटा-घुटा रहता है। वाणी अपने पिता की प्रेरणा से बढ़ रही है। उसे घर की चारदीवारी में बन्द रहकर निकम्मी नहीं हो रहना— वह, स्वच्छन्द वातावरण में तितली-सी उड़ेगी और जब बड़ी होगी तो न जाने बड़ी लेखिका बने, कलाकार बने, गायिका बने, क्या बने! उसे किसी दूसरे की ओर आँख उठाकर भी देखते हुए यह तन कर बैठ गया है, घुट कर रह गया है। न जाने इसके मन में मेरे लिए कितना क्रोध है......और यह देवनगर में एक बड़े

खुले, विशाल, विराट और पावन जीवन का सपना लेकर आया है......' और मैं तीरथराम के मन की सकुलता पर मन ही मन हँसा......

सामने किचन की ओर से देवा जी खाना खाकर अपनी पत्नी के साथ आ रहे थे। ड्योढ़ी से जो रविश डाइनिंग हाल को जाती थी, उसमे देवा जी की कोठी से घूमकर आनेवाली एक दूसरी पगडण्डी मिल जाती थी। देवा जी प्राय: इसी से आते-जाते थे। दूर मे हाथ जोड़ कर मैंने दोनों को 'नमस्कार' किया। आदत तो मेरी 'सत श्री अकाल' कहने की ही थी, पर देवा जी की पत्नी 'नमस्कार' ही पसन्द करती थी। मेरे निकट पहुँचने से पहले ही वे मुड़ गये। मधु तो थी, पर वाणी उनके साथ न थी। मैंने सामने डाइनिंग हाल की ओर देखा। दूसरी पाँत वाले लगभग जा चुके थे, तीसरी पाँत वाले हमाम के नल से हाथ धोकर अन्दर जा रहे थे। वाणी वही मधवार साहब की लड़की श्यामा के साथ खड़ी बातें कर रही थी। मै गुज़रा तो बाते करते-करते उसने मेरी ओर देखा। मैंने निगाह नही हटायी, बल्कि आँखों से अभिवादन करते हुए मै मुस्करा दिया। वाणी का चेहरा एकदम खिल गया और श्यामा से उसकी बाते और भी सरगर्मी से होने लगी। नल मे हाथ धोकर उनके पास से निकला तो फिर एक उड़ती नजर उसने मेरी ओर डाली और जैसे श्यामा की बात के उत्तर मे मुस्करायी।

मै खाने के कमरे में गया। तीसरी पाँत में प्राय: नौकरपेशा लोग, प्रेस के ऐसे कर्मचारी जिनके घर खाना न पकता था और लेट-लतीफ किस्म के दैवसैनिक आते थे। मैंने पैंटरी से अपनी थाली, कटोरी ली और कोने मे अपनी मेज़ पर जा बैठा। सावित्री और जीत

परस रही थी। मेरी मेज़ पर प्रेस के मैनेजर आ बैठे थे। मै उनसे बाते करने लगा। सावित्री जब दाल का डोंगा लेकर आयी तो मैने सिर उठाया—दिल धक्क से रह गया। मेरी आँखों के सामने अगली पंक्ति की मेज पर वाणी बैठी थी। इस तरह कि मै सिर उठाऊँ तो अनायास वह सामने पड जाय। शायद वह बाहर खडी मेरी ही राह देख रही थी। इतने दिन से शायद वह चुपचाप मेरी गति-विधि निरख रही थी। मेरे बैठने के बाद ही शायद वह उस मेज पर बैठी थी। इतने दिन मुझे भी आये हुए हो गये थे, मैने उसे कभी इस पाँत मे खाना खाते न देखा था।

लेकिन मै घबराया नही। मैने तय कर लिया कि यह चोरी-छिपे देखने की बात देवनगर के सिद्धांतों के विरुद्ध है। वाणी से क्यों न मै खुल जाऊँ ताकि मेरे बारे मे उसकी सारी जिज्ञासा, सारी उत्सुकता मिट जाय और वह अपने ध्यान को दूसरे उपादेय कामों मे लगाये। देवा जी ही के एक लेख मे मैने पढ़ा था कि निम्न-मध्य-वर्ग का प्रेम इसलिए दबा, घुटा और बीमार रहता है कि लड़के-लड़कियों मे खुली बात तो दूर रही, दृष्टि-विनिमय तक वर्जित है। लड़कियाँ लड़के खुले रूप से मिले-जुलें तो बहुत से युवा-युवतियाँ जो दूर से अच्छे लगते है, मिलने-जुलने पर बेकार साबित हों और प्रेम अच्छी और स्थायी बुनियादों पर कायम हो! इसलिए क्यों न मै इस लडकी से मिलकर बता दूँ कि मै इसके योग्य नही। (मन में मैंने सोचा कि वह मेरे योग्य नही!)

खाना खाने के बाद थाली लेकर जब मै बाहर निकला तो कुछ इस तरह हुआ कि वाणी और मै लगभग एक साथ नल पर पहुँचे।

मैं थाली रखकर हमाम की टोंटी के नीचे हाथ धोने जा ही रहा था कि वाणी थाली रखकर आ गयी। मैं पीछे हट गया कि वह पहले हाथ धो ले। तभी मेरी नजर सामने ड्योढ़ी की ओर चली गयी। तीरथराम उसी तरह हाथ बगल में दबाये घूम रहा था। उसकी निगाह हमारी ओर थी, पर मुझे देखते ही वह सिर झुकाकर मुड़ गया।

बड़े मीठे स्वर मे 'थैंक यू' कहते हुए वाणी हाथ धोने लगी। साबुन मलते और हाथ धोते हुए उसने अपनी चचल पर गहरी दृष्टि मुझ पर डाली और जरा-सा मुस्कराते हुए बोली—"आप उस दिन गाते ही बाहर क्यों चले गये थे ?"

हाथ धोकर वह पीछे हट गयी और रूमाल से उन्हे पोंछने लगी। मै हाथ धोने लगा। इस बीच लगातार मै उसके प्रश्न का उत्तर सोचता रहा।

"बताइए न सगीत जी ?" उसने फिर आग्रह के साथ कहा।

हाथ धोकर मै चलने लगा—उसी तरह असमजस मे पड़ा—तब वह भी मेरे साथ बढी।

"मै तुम्हे क्या बताऊँ," मैंने कहा, "वे बोल बीते दिनों की कुछ ऐसी याद ताजा कर देते है कि मन अनायास भर-सा आता है। दिल के घाव को दूसरे के सामने छेड़ना यों भी कोई अच्छी बात नही। छेड़ दिया तो उसके रिसने को लगातार उनकी आँखों मे रखना उनके और अपने साथ जुल्म करना है।"

मै चुप हो गया और हम मौन चलने लगे। तभी वह मोड़ आ गया, जहाँ से देवा जी की कोठी को रास्ता जाता था। लेकिन वह उधर को नही मुडी।

"अच्छा तो वाणी, मैं फिर शाम को आऊँगी, नमस्ते!"

हम मुड़े। देखा—श्यामा हमारे पीछे-पीछे आ रही है।

वाणी चौंकी। लेकिन तत्काल अपनी उन्ही बड़ी-बड़ी सुन्दर गहरी आँखों मे उसको डुबाते हुए बोली—"अच्छा आना!"

वह रुकी नही, मेरे साथ चलती रही।

कुछ पग चलने पर उसने कहा—"मैंने आप पर नाहक उस दिन गाने के लिए इतना जोर दिया। आपका दिल दुख जायगा, यह जानती तो कभी ऐसा न करती।"

यह कहते-कहते उसने एक अपराधी-दृष्टि से मेरी ओर देखा। उसका नन्हा-सा मुख पीला-सा हो गया और आँखों मे पछतावा भर आया।

उसके उस मुख मे कवियों द्वारा वर्णित कोई भी गुण न था, लेकिन उस पीले-सफ़ेद, पश्चात्ताप-भरे नन्हे-से चेहरे और उन करुणाभरी आँखों को देखते हुए मन को कुछ होने-सा लगा।

मैंने कहा—"तुम्हे कैसे मालूम होता। मैंने तो कभी किसी से कुछ कहा ही नही। फिर गीत के बोलों मे तो दर्द नही। इसका पहला बोल तो मैं कई बार खुशी की चरम-सीमा पर पहुँच कर गाया करता था।"

और अपने किसी आत्मीय की तरह मैं उस लड़की को अपने जीवन की वह सारी दुख-गाथा सुना गया—कैसे जब मेरी बीवी हँसा करती थी और उसके दाँतों के मोती जगमगाने लगते थे, मैं मस्त होकर गा उठता था—"तेरे दन्द मोतियाँ दे दाने, हस्सदी दे डिग जाणगे—" फिर किस तरह उन्ही जगमगाते दाँतों को मैंने मौत के अँधेरे में क़ब्र के बुझते दियों की तरह टिमटिमाते देखा

और फिर कैसे उनकी वह अन्तिम लौ मेरे सीने में सदा के लिए घाव कर गयी। और उस बोल ने, जो ख़ुशी के किसी अल्हड़ क्षण की यादगार था, एक करुण रूप धर लिया। वे ही बोल जिनको गाते हुए मैं एकदम मतवाला हो उठता, ख़ून के आँसू रुलाने लगे। गाते हुए मैंने उनमें कुछ और पद जोड़ दिये। मैं गवैया नहीं, न किसी ने (मेरी बीवी के सिवा) मेरे गाने की कभी खास तारीफ़ ही की है, लेकिन जब कभी रात को नींद नहीं आती और मेरी कल्पना पिछले कुछ वर्षों की ऊँची-नीची घाटियों में भटकती फिरती है तो मैं ये टप्पे गाता हूँ। जाने कैसे, जाने क्यों, दो-एक बार इनको गाने के बाद मुझे अजीब सी शान्ति मिल जाती है और मेरे पलक झप आते हैं।

हम जाकर डचोढ़ी में एक बेंच पर बैठ गये थे और मैं उसे अपनी कहानी सुनाता रहा था। वाणी का मुख मेरी बात सुनते-सुनते एकदम सफेद हो गया और उसकी आँखें न जाने कैसी बड़ी-बड़ी सी हो आयीं। क्षण भर मैं उसकी ओर देखता रहा। जाने उस नन्हे से सफेद मुख को देखते-देखते जी को कैसा कुछ होने लगा। लेकिन इससे पहले कि कुछ होता मैं उठा और डचोढी के चमकते रंगीन फ़र्श पर अपने जूतों की आवाज करता हुआ घूमने लगा।

सहसा मेरी निगाह सामने के बड़े दरवाजे के बाहर रविश पर घूमते हुए तीरथराम पर गयी। कनखियों से उसने हमारी ओर देखा और फिर सिर झुकाये वह चलता गया। मन सहसा एक अजीब वितृष्णा से भर आया। जब हम किचन के बाहर खड़े थे तो मैंने उसे डचोढ़ी के दरवाज़े पर रुके अपनी ओर निगाहें गड़ाये पाया था। झुँझलाहट हुई कि क्या इस देवनगर में भी वही उबा देने वाली

आदिम तिकोन हमें बाँध लेगी जो फ़िल्मों से लेकर उपन्यासों और कहानियों तक में नायक-नायिकाओं को बांधती आयी है ? और क्या मैं भी उस तिकोन का एक कोण बनकर रह जाऊँगा ? 'लेकिन नहीं, मैं इस तिकोन को तोड़कर निकल जाऊँगा', मैंने झुँझलाकर मन में कहा और जिस आकुलता के अधीन मैं बैंच से उठकर उस बड़े मेहराबदार दरवाज़े तक बढ आया था, उसी के अधीन मैं फिर मुड़ा।......

वाणी मेरा रास्ता रोके खड़ी थी। वह अपनी जगह से उठ आयी थी।

"क्यों संगीत जी, आपकी पत्नी का देहान्त कब हुआ ?" मेरे मन की अवस्था से नितान्त अनभिज्ञ, मेरे जीवन की ट्रेजेडी ही में उलझे हुए, बड़े भोलेपन से उसने पूछा।

तीरथराम को जासूसों की तरह अपनी गति-विधि पर निगाह रखते हुए देखकर मेरे मन में जो क्रोध उठा था, उसने मुझे जहाँ पहुँचा दिया था, वहाँ से फिर वाणी के साथ बात शुरू करने की नीचाई तक उतरना मेरे लिए एकदम असम्भव हो गया। मैं बिना उत्तर दिये उसके पास से निकलकर डयोढ़ी के दूसरे दरवाज़े तक गया। इस बीच में मैंने अपने आपको संयत कर लिया। वाणी मेरे पास पहुँची तो मैंने कहा—"यही चार एक महीने हुए हैं। मेरे यहाँ आने से एक महीना पहले !"

हम बाहर निकल आये। तीरथराम घूमकर सामने डाइनिंग-हाल को जाने वाली रविश पर हो गया।

"जभी आप इतने उदास-उदास, खोये-खोये रहते हैं," तीरथराम की ओर ध्यान दिये बिना वाणी ने बड़े हमदर्द-स्वर में कहा, "आप

हमारे यहाँ आया कीजिए। रेडियो सुना कीजिए, चलिए, आज सहगल के गाने होने वाले हैं, आपको सुनवायें।"

मैं अनुवाद के लिए लेख या कहानी लेने या अनुवाद की हुई चीजें देने के सिलसिले में एक-आध बार ही देवा जी के पास गया था— वह भी उनके दफ्तर में। उनके घर बस वही पहले दिन गया था। फिर नहीं गया। जरूरत ही नहीं पड़ी। एक-आध बार कोठी से गुजरते समय देवा जी की पत्नी से 'नमस्कार' का आदान-प्रदान हुआ और बस।

वाणी के साथ-साथ जब मैं कोठी पर पहुंचा तो देवा जी के कमरे में रेडियो पर सहगल के गाने की आवाज आ रही थी— 'झूलना झुलाओ......' बरामदे में वाणी की माँ खड़ी अपने नौकर धीरसिंह से जूतों पर पालिश करा रही थी। बिल्कुल ऐसा लगता था जैसे बूट-पालिश का नहीं, किसी सैनिक मोर्चे का निरीक्षण कर रही हो।

"श्यामा किधर है?" उन्होंने वाणी से पूछा।

"फिर आने को कह गयी है। आज सहगल के गाने हो रहे हैं दिल्ली से, सगीत जी को बड़ा शौक है गाने का, मैं इन्हें ले आयी।"

उन्होंने मेरी ओर निगाह उठायी और मैंने एक क़दम बढ़कर कहा—"नमस्ते, माँजी!"

"माँजी!" वाणी की माँ ने क्रोध और आश्चर्य की एक दृष्टि मुझपर डाली। "क्या मैं इतनी बूढ़ी हूँ कि माँजी कहलाऊँ?"

क्रोध और हँसी—दोनों ही भाव बिजली की एक दूसरी को काटती-सी लहरों के समान मेरे दिमाग में कौंध गये। मैं अपनी माँ

को, जो शायद उम्र में उन देवी जी से दो-एक साल ही छोटी होंगी, स्नेह से माँजी कहता था और तब से कहता आया था जब उनकी उम्र बीस-पच्चीस वर्ष की रही होगी।

"मुझे यहाँ सब माता जी कहते हैं," उन्होंने कहा।

"जी, मैं तो अपनी माता जी को भी माँजी ही कहता हूँ।"

लेकिन उन्होंने यह नहीं सुना और धीरसिंह को साबुन से ब्रश धोकर धूप में रखने का आदेश दिया।

उनका पहलू काटकर वाणी देवा जी के कमरे की ओर बढ़ी और उसने मुझे भी अपने पीछे आने का संकेत किया।

अन्दर कमरे में देवा जी रेडियो के पास लम्बे कौच पर आराम में लेटे थे। पैर उनके निकट की तिपाई पर टिके थे, आँखें बन्द थी और सहगल का गीत श्रवणों में अनवरत मधु घोल रहा था।

हमारे जाने पर उन्होंने आँखें खोली। वाणी ने वही बात दुहरा दी। उन्होंने पास के कौच की ओर संकेत किया और पूर्ववत् आँखें बन्द कर ली।

तभी दूसरा गीत शुरू हुआ—

"सुनो-सुनो रे कृषण काला"

और जैसे उसके साथ ही दिल की धड़कन तेज हो गयी। मैं न कृष्ण का भक्त, न रास-लीलाओं का क़ायल। गुरु नानक की वाणी और दसवें पादशाह के आदेशों में विश्वास रखने वाला, अपनी हलकी-सी नास्तिकता के बावजूद पाँचों ककारों (कच्छ, कड़ा, केश, कृपाण, कंघा) को धारण करने में कभी चूक न करने वाला—

कृष्णलीला मेरे लिए कोई कशिश न रखती थी, पर न जाने क्यों, जब भी लय, लोच, करुणा और मधु से भरे सहगल के गहरे, भरे काँपते-से स्वर में "सुनो-सुनो रे कृपण काला" सुनता तो जाने मुझे क्या हो जाता। मैं बाजार में जाता-जाता रुक जाता और बिना पूरा गीत सुने आगे न बढ़ता। एक बार मैंने इसके बोल भी लिखे थे। कागज पर लिखे उन बोलों में न वह रस था, न जादू! 'सुनो-सुनो रे कृपण काला' लिखी हुई यह पंक्ति अच्छी न लगती थी। 'रे' की जगह 'ओ' और 'काला' की जगह 'काले' होता तो शायद मेरे पंजाबी कानों को वह बोल अच्छा लगता, लेकिन सहगल के मुँह से चार छः बार सुनकर अब यही अच्छा लगने लगा था। गाना चल रहा था।

'कहे राधा भी मोहे कलंकिनी
कहे राधा भी मोहे......

गीत में कलंकिनी शब्द....लेकिन उस मधु-घुले स्वर में यह इतना अच्छा लगता था कि जी होता, वह शब्द बार-बार दुहराया जाये। उसे सुनते-सुनते मन न अघाता था।

और फिर वह तान—वह लरजती, काँपती, हृदय को बेधती हुई वह तान—

चंडीदास कहे—सखि हे
जिस तन लागे वह तन यह दुखड़ा जाने।

गीत चलता गया और मन चाहता गया कि वह क्षण, वह तान, वह सोज, वह कम्प थम जाय। सहगल गाता रहे और मैं सुनता रहूँ।

पर गीत तो समाप्त हो गया। हाँ, उसका जादू फिजा में छाया रहा। नहीं जानता कोई गाना मुझे कभी इतना अच्छा लगा होगा, स्वयं भी सहगल ने कोई गीत इतना अच्छा गाया होगा! तभी सुना, रेडियो बोल रहा था—

"हम लाहौर से बोल रहे हैं। अब हमारा तालीमी प्रोग्राम शुरू होता है।"

देवा जी ने रेडियो का स्विच घुमा दिया।

मैं उठा, उसी तरह मन्त्र-मुग्ध!

"क्यों!" वाणी ने ओठों मे पूछा।

"गाने तो शायद......" कुछ अस्फुट सा मेरे ओठों से निकला।

"दार जी, दिल्ली ही लगा दो! अभी सहगल के गाने हो रहे हैं।" मेरी बात पूरी सुने बिना वह अपने पिता से लगभग चिमट गयी। मैं ठिठका खड़ा रहा।

"यह एक जरूरी टॉक (वार्ता) हो रही है।"

"दार जी दिल्ली ही लगा दो!" और वाणी मचल कर उनसे और भी चिमट गयी।

देवा जी के मस्तक पर क्षीण से तेवर बन गये। उन्होंने एक ऐसी दृष्टि मुझपर डाली जिसमे हलकी-सी चिढ़चिढ़ाहट और विवशता थी। फिर सयत्न उस पर संयम पाकर उन्होंने रेडियो का स्विच घुमा दिया और सहसा सहगल का वही मीठा लरजता स्वर कमरे में गूँज उठा। और वाणी के जोर देने पर कुछ अजीव सी खिन्नता और प्रसन्नता मन मे लिये हुए मैं बैठ गया।

———

यह मान लेने में मुझे कुछ भी सकोच नही कि उन चार महीनों मे देवनगर से मुझे बेहद प्यार हो गया था। वहाँ वाणी थी और उसकी मुग्ध-चकित आँखों मे मेरे लिए अपार स्नेह और सहनुभूति थी, या वहाँ देवा जी थे, जो मेरे सतप्त मन को शान्ति प्रदान करते थे, या फिर देवनगर-वासियों मे वैसी सहृदयता, स्नेह ओर प्यार था, जैसा कही और देखने मे नही आता— नही इनमे से कोई बात न थी। वाणी के उस स्नेह और सहानुभूति ने मेरी उस अस्थायी शान्ति को, जो देवनगर के उन पहले दिनों में मुझे प्राप्त हुई थी, एक अजीब सी बेचैनी में बदल दिया था। देवा जी के लेखों की बड़ी-बडी बातें भी मेरे मन के सागर पर तैरती हुई वृन्तहीन

कमलिनियों-सी बहने लगी थी। और देवनगर के वासी ! —जैसे-जैसे मैं उन्हें जानता गया, मुझे लगता गया कि ऊपर से नज़र आने वाली मुस्कानों और प्रकट सुनायी देने वाले प्रेम और परस्पर प्रोत्साहन के दावों के नीचे वही ईर्ष्या-द्वेष का विष छिपा हुआ है। लेकिन देवनगर के आस-पास की सुन्दरता, उन देहाती सुबहों और शामों का वह सोने, गुलाब और केसर से धुला हुआ लावण्य, नदी-तट का वह एकान्त, करीर की उन ठिगनी भरी-पुरी झाड़ियों के फूलों की वह जलते अंगारों-की-सी लाली— सब मेरे मन को कुछ इस तरह बाँधे था कि जब दिमाग कहता, 'मैंने देवनगर आकर गलती की' तो मन वहाँ से जाने के विचार-मात्र से उदास हो जाता।

देवनगर में मेरा रह पाना कठिन है, यह विचार अचानक उस दोपहर को पहले-पहल मेरे मन में कौंधा, जब वाणी रेडियो सुनाने के बहाने मुझे अपने घर ले गयी थी—उसकी माँ ने 'माँजी' कहने पर मुझे डाँट दिया था और वाणी ने सहगल के गाने फिर से लगाने को अपने पिता से अनुरोध किया था तो अपनी लड़की के उस तरह जोर देने पर देवा जी ने यद्यपि रेडियो का स्विच घुमा दिया था, पर मेरी ओर देखते हुए उनके माथे पर चिढ़चिढ़ाहट भरे तेवर बन गये थे—और देवनगर के उस खुलेपन के ऊपर पड़ने वाले दबाव और उस प्रकट विशालता के अन्तर में छिपी संकीर्णता की एक झलक मुझे मिल गयी थी।

देवा जी के यहाँ मैं फिर न गया था। यह ठीक है कि वाणी डाइनिंग हाल में जरूर उसी मेज़ पर बैठती—उसी कुर्सी पर जहाँ से वह मेरी ओर देख सके और कोशिश करती कि मेरे उठते ही उठे, पर मैंने उस दिन जैसा अवसर फिर न आने दिया था। शाम को

कोठियों के सामने की सड़क पर टहलना छोड़कर मैं नदी-तट पर जाने लगा था और सच्ची बात तो यह है कि नदी-तट की वे अकेली सैरें देवनगर की सुखद-तम स्मृतियों में से हैं।

पित्तो की मौत के बाद शहर की भीड़-भाड़ में मेरा दम घुटने लगा था। असल में पित्तो के जिन्दा रहते मुझे नगर के उस शोर-शराबे और भीड़-भब्भड़ का कभी अहसास न हुआ था। उस सारे शोर के ऊपर जैसे पित्तो की प्यारी-प्यारी बातें मेरे कानों में गूँजती रहती थीं और वह सारी भीड़ पित्तो की सूरत के आगे एकदम लुप्त हो जाती थी। दफ़्तर में काम करते, मित्र-शत्रुओं, अफसरों या चपरासियों से बातें करते हुए भी आँखें उसको देखती रहती थीं। दो-चार बच्चे हो जाते तो सम्भव है कि नोन, तेल, लकड़ी और कपड़े की यथार्थता विवाह के उन शुरू के वर्षों की व्यामोहावस्था को भंग कर देती, लेकिन तीन वर्षों के उन तीन पल बन कर बीत जाने वाले दिनों के सहचर्य के बाद, जब वह मीठी आवाज़ और वह मन-मोहक सूरत मौत के हाथों क्षीण और विकृत होकर चली गयी तो लगा कि जैसे शहर का शोर मेरे कानों के पर्दे फाड़ रहा है और भीड़ मेरा गला घोंटे दे रही है। देवनगर के उन वीरानों का वह मौन मुझे इतना अच्छा लगता कि कभी-कभी जी चाहता उसी में विलीन हो जाऊँ, घुल जाऊँ, शरीर को छोड़कर उसके कण-कण में समा जाऊँ।

कभी नहर भरी होती। पुल के पास पानी कयामत का शोर करता। पर मील भर आगे वह ऐसे बहता कि बहता दिखायी न देता। मैं पैर नीचे पसार कर उसके किनारे बैठ जाता। पेड़ों के साये लहरों के बहाव पर तिरते हुए काँपते और मैं मुग्ध-सा देखता। तभी पश्चिम

का सूरज आकाश के बादलों को गुलाबी कर देता और वह रग लहरों पर चमक उठता।

कभी नहर का पानी बन्द होता। रेतीला तल साँझ के अँधेरे मे चमकता तो मै नीचे उतर जाता। ठंडी रेत पर भागता चला जाता। कभी किनारे पर बैठे-बैठे गाने लगता अथवा भेड-बकरियों के रेवड़ को इस पार से उस पार जाते हुए देखता। अगली भेड़े जिधर को जाती, शेष सब भी उन्ही के पीछे उधर ही को चल पड़ती और कभी अगली भेड़ों को ग़लत रास्ते पर चलते देखकर गड़रिये कान पकड़-पकड़ कर उन्हे ठीक मार्ग पर चलाते। डडे मे पीट देते तो वे "वा... वा" करती हुई भागती।

लेकिन कुछ दिन बाद मुझे नहर की सैर छोडनी पडी और वे रगीन, अकेली उदास-उदास शामे अपनी खूबसूरती के साथ केवल मेरी स्मृति की सगिनी बनकर रह गयी।

शाम का वक़्त था। नहर पर पहुँचा तो पश्चिम मे सूरज डूब रहा था। सर्दी सरे-शाम ही उतर आयी थी और मैं ओवरकोट पहने था। तभी पश्चिम की ओर आँखे उठाते ही दिल की धड़कन जैसे थम गयी। कितना अकथ, कितना सुन्दर दृश्य था! दूर, बहुत दूर खजूर के एकाकी पेड़ के पीछे, जो उस निर्जन के सूनेपन को चुनौती देता हुआ-सा खड़ा था, सूरज डूब रहा था। बड़ा-बड़ा और पीला-पीला—पेड़ का ऊपर का सिरा ऐसे लग रहा था जैसे उस पीली कुदनी थाली पर अकित हो। नहर के पानियों पर सूरज का बिम्ब, ऊपर आकाश के हलके श्वेत बादलों पर उसका रग, उस रंग से रजित

बड़ी-बड़ी आँखें

दूर तक फैली नहर की पटरी और अकेला मैं.....कुछ दूर चल कर बैठ गया और अचानक गाने लगा। वही अपना चिर-परिचित गीत—'दद मोतियाँ दे दाने' नहीं, सहगल के मधुमय स्वर में सुना वह कृष्ण के प्रेम में पागल गोपी का गीत, जो जरूर ही अल्हड़ रही होगी, छोटी उम्र की होगी। गीत विरह का था। पर जाने क्यों मुझे करुण नहीं लगा। मन की उमग मे जैसे उस प्राकृतिक सौन्दर्य और सुनसान को भरता हुआ मैं गा उठा—

सुनो सुनो रे कृषण काला
सुनो सुनो रे कृषण काला

तभी कहीं निकट ठहाके की आवाज आयी—सूने मे सहसा बज उठने वाली घंटियों सरीखी युवा-लड़कियों के ठहाके की आवाज। मैं चौंक उठा। पटरी पर वाणी, श्यामा और मधु न जाने किस बात पर हँसती-हँसती दोहरी होती जा रही थी। साथ उनके अठारह-बीस वर्ष का एक युवक था।

उन्हें गुजरने के लिए राह देने को मैं एक ओर हट गया। पर चारों की टोली मेरे पास आकर रुक गयी।

"दिलजीत, यह हैं संगीत जी, बड़ा ही अच्छा गाते हैं।" अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को फैलाते और शब्दों के साथ झूमते हुए वाणी ने अपने साथी युवक को मेरा परिचय दिया और फिर मुझसे बोली—"यह है दिलजीत, मेरा भाई, गवर्नमेण्ट कालेज मे पढता है, छुट्टियों मे आया है।"

क्षण भर मैं वाणी की उन एकदम फैल जाने वाली बड़ी-बड़ी आँखों को और 'बड़ा ही अच्छा गाते हैं' कहते हुए दोनों ओर झूल

जाने को देखता रहा। कहना चाहता था—दिलजीत तो तुम्हारा नाम होना चाहिए था, 'वाणी'. . .यह भी कोई नाम है ?—लेकिन मैंने कुछ नही कहा, सिर्फ मुस्करा कर हाथ बढा दिया।

"आप तो आगे जा रहे होंगे," हाथ मिलाते, मुस्कराते और कन्नी काटकर निकलने को पैर बढाते हुए मैंने कहा।

"हम भी मुड़ रहे हैं," मुड़ते और अपनी दोनों सहेलियों को साथ ही मोड़ते हुए वाणी बोली।

कुछ क्षण हम चुपचाप चलते रहे। तभी सामने तीरथराम आता दिखायी दिया।

"आओ भई तीरथराम," पास आने पर मैंने उससे कहा।

"नही, आप लोग चलिए। मै अभी आगे जाऊँगा।"

हम चले। तभी सहसा दिलजीत ने वाणी से कहा—"संगीत जी से गाना ही सुनवाओ।"

वाणी क्या उत्तर देती ! उसने मेरी ओर देखा। उसकी आँखे फैल गयी और चेहरा उदास हो गया। वे आँखे जैसे कह रही थी—मै जानती हूँ, आपको दुःख होगा, मै कैसे अनुरोध करूँ, पर मेरा वीर कह रहा है। काश आप गा सकते !

और मै गाने लगा।......

लेकिन दूसरे दिन से मैंने नहर पर जाना छोड दिया। सर्दियों की शाम समय से पहले उतर आती। दिनभर काम करता। शाम को जी कमरे में बैठने को न होता। सड़क पर घूमना पहले छोड़ चुका था, अब नहर पर जाना भी छोड दिया तो सवाल सामने आया कि आख़िर शाम को कहाँ जायें ? तब मैंने शाम को नन्दलाल के यहाँ

जाना शुरू कर दिया। सारे घरों में नन्दलाल के यहाँ जाना मुझे क्यों पसन्द आया? शायद इसलिए कि वही एक घर था, जिसमें मुझे सचमुच खुला व्यवहार मिला। सावित्री ने जो एक बार मुझे 'आओ भरा जी*' कहा तो फिर सदा बहनों—वह भी बड़ी बहनों—का-सा व्यवहार दिया। शाम को जब मैं वहाँ जाता तो वह सदा स्टोव जलाकर चाय बना देती। यदि मुझे चाय के समय पहुँचने में देर हो जाती तो वह नन्दलाल को भेज देती। समय काटने और कुछ उस कृतज्ञता के बोझ को हलका करने के विचार से मैं उसे अंग्रेजी पढ़ाने लगा था। भरा-पुरा परिवार। किसी प्रकार की कुण्ठा नहीं। लबालब भरे तालाब के किनारे पहुँचने का-सा आभास वहाँ मिलता और मन होता कि इस तालाब के किनारे वृक्षों की छाया में कुछ पल सुस्ता लिया जाय! देवनगर के रेगिस्तान में नन्दलाल का घर मेरा शाद्वल बन गया।

लेकिन मुझे और सावित्री को—और यों मुझे और नन्दलाल को—निकट लाने वाली एक दूसरी चीज थी—देवनगर की माता जी (देवा जी की पत्नी) के प्रति गहरी नफरत! सावित्री, उसका पति और मैं, वाणी की माँ की नजरों में कोई ऊँचा दर्जा न रखते थे। अपने प्रति उनकी भावना का पता मुझे सिर्फ उसी दिन न चला था, बल्कि बाद में मुझे देखते ही उनके माथे पर जो तेवर पड़ जाते थे, उन्होंने भी मेरे उस संदेह को विश्वास में बदल दिया था। सावित्री की बातों से भी पता चल गया था कि उन्हें भी माताजी कुछ उतना अच्छा नहीं समझती।

---

* 'आइए, भाई साहब!

माता जी आरोड़ा वंश से सम्बन्ध रखती थी। एक मध्यवर्गीय व्यापारी की वे लड़की थी। देवा जी रुडकी पास कर जब इंजीनियर हुए तो उनके मकान का एक हिस्सा किराये पर लेकर रहने लगे थे। वही उनमे प्यार हो गया। यद्यपि देवा जी को बडे-बड़े घरों से रिश्ते आते थे और वे व्यापारी महोदय अपनी लड़की का विवाह एक सिक्ख युवक से करने को कदापि तैयार न थे, तो भी देवा जी ने सब बाधाओं को पार कर, उनसे विवाह कर लिया था। सावित्री का कहना था कि माता जी ही के प्रभाव से देवा जी ने दाढ़ी और बाल कटवा दिये थे और माता जी ही के कारण उन्होंने लडकियों के नाम वाणी और मधु रखे थे। "देवा जी जब कभी दिलजीत के साथ अकेले होते है, तो प्यार से उसे दिलजीतसिह कहते है," सावित्री ने एक दिन बताया, "माता जी उसे सदैव दिलजीत कुमार कहकर पुकारती है।".....हालाँकि यह बात उसे अच्छी लगनी चाहिए थी, पर लगता था सावित्री को इस बात का दुख है कि देवा जी ने बाल क्यों कटवाये या क्यों उन्होंने लडके-लड़कियों के नाम हिन्दुआना रखे। जैसे देवा जी पर उनकी पत्नी के आधिपत्य से उसे चिढ़ थी।

"देवा जी तो बड़े भले आदमी है— बड़े-बड़े आदर्शो के सपने लेनेवाले, लेकिन यह माता जी उन्हे सदा उसी कीचड़ मे ला घसीटती है, जहाँ मे वे उठकर उड़ना चाहते है।" एक दिन सावित्री ने मुझसे कहा, "देवा जी ने देवनगर बसाया कि वे दुनिया के सामने एक ऐसा आदर्श नगर प्रस्तुत कर सके, जहाँ इन्सान-इन्सान मे अन्तर न हो। न छूतछात हो, न घृणा-द्वेष हो, न रू-रियायत, न खुशामद और चापलूसी हो! लोग खुले और स्वच्छ वातावरण में ऊँचे आदर्शो के लिए काम करे। अगर देवा जी की चलती तो शायद सचमुच ऐसा

नगर बस जाता। लेकिन यहाँ चलती तो माता जी की है और उन्हें जो सुबह उठकर 'नमस्ते' न करे, दिन मे दो-एक बार जाकर उनके दरबार में हाजिरी न दे, वे उनकी दुश्मन बन जाती है।"

उसने यह भी बताया कि आठ सैनिक इसी कारण त्यागपत्र देकर जा चुके है। उनकी जगह देवा जी ने इन्ही माता जी के कहने पर अपने रिश्तेदार भर लिये है। देवनगर 'देववाणी' के ग्राहकों और देवमण्डल के मेम्बरों के धन से बना है, पर माता जी अपने आपको इसकी एकछत्र साम्राज्ञी समझती है। "इस समय भी हम, सधवार साहब और कुलबीरसिंह उनकी आँख मे खटकते है," सावित्री बोली, "हममे से किसी को भी न लल्लो-पत्तो आती है, न खुशामद सुहाती है। यहाँ वही रह सकता है जो इन सब मे दक्ष हो। सो वे हमसे नाराज है और वह जन्म-जन्म का भूखा तीरथराम सारा दिन वही चिमटा रहता है। इतना बड़ा स्कैंडल हो गया लेकिन......"

"स्कैंडल?" मैंने हैरानी से पूछा।

"हाँ, आपके आने के कुछ ही दिन पहले यहाँ देवनगर का वार्षिक सम्मेलन हुआ था। उसमें देवा जी का लिखा नाटक 'राज-कुमारी वीरा' खेला गया। तीरथराम राजा बना था और वाणी राजकुमारी। उस नाटक के बाद ही वाणी और तीरथराम को लेकर कई तरह की बातें होने लगी। अच्छा खासा स्कैंडल हो गया। सबने बड़ा बुरा माना। उसे सेना से निकालने का प्रस्ताव भी रखा गया। लेकिन वह जाकर माता जी के चरणों पर गिर पड़ा कि वाणी तो मेरी लड़की-जैसी है। मैंने बच्ची समझ उसे गोद मे ले लिया था। और माता जी के कहने से देवा जी ने वह प्रस्ताव नही पास होने दिया।"

कुछ क्षण हम दोनों चुप बैठे रहे। फिर सावित्री बोली—"और तभी से तीरथराम किसी दूसरे घर मे ज्यादा आता-जाता नही। न जाने उसकी आँखों में कैसा नदीदापन है, कोई उसे पसन्द नही करता, बस माता जी की खुशामद मे लगा रहता है या भूत-प्रेतों की तरह यहाँ की सड़कों पर घूमता रहता है।"

लेकिन तीरथराम वहाँ अपनी निन्दा की धार कुन्द करने के लिए ही न बना रहता था। उसका उद्देश्य माता जी और देवा जी को मेरे विरुद्ध भडका कर वाणी के हितचिन्तक के रूप में अपनी खोयी प्रतिष्ठा भी पाना था।

मुझे मधवार साहव से इस बात का पता चला। नन्दलाल से मैंने कुलबीरसिह और मधवार साहब की इतनी प्रशंसा सुनी थी कि देवा जी, माता जी और कुछ दूसरे देवसैनिकों की उपेक्षा मोल लेते हुए भी मै मधवार साहव के यहाँ आने-जाने लगा था। नन्दलाल के घर आते-जाते मैं जान गया था कि देवसैनिकों मे, जो ऊपर से सेना के सिपाहियों की तरह एक-जैसे लगते है, वास्तव मे धीरे-धीरे एक खाई बन रही है। दो पार्टियाँ हो गयी है। एक का बहुमत है और दूसरी का अल्पमत। बहुमत मे देवा जी और उनके चापलूस शामिल है जो देवसेना के सिद्धान्तों का नही, देवा जी अथवा देवी जी की (नन्दलाल मजाक से माता जी को देवी जी कहा करता था) इच्छाओं का ध्यान रखते है। अल्पमत मे वे सैनिक है जो देवमण्डल के सिद्धान्तों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते है और मधवार साहव इस अल्पमत के नेता है।

बड़ी-बड़ी आँखें

एक दिन मै उनसे मिलने गया तो वे फट पड़े, "बड़े-बड़े इरादे और बड़ी-बड़ी उम्मीदे लेकर हम देवमण्डल के मेम्बर बने थे, धन-मान का लालच हमे नही था। हम तीनों अच्छी नौकरियों पर लगे थे। लेकिन अपनी कम-से-कम निजी जरूरतों से एकदम निश्चिन्त होकर ऊंचे आदर्शों के लिए जीवन को लगा देना और ऐसे वायुमण्डल मे साँस लेना, जहाँ सहृदय साथियों की सगति हमारे दिलों को कुशादा और व्यक्तित्व को मज़बूत बनाये— इसी आदर्श ने हमे खीचा था। लेकिन यहाँ साल भर गुजारने के बाद लगता है कि इस नगर का बाहर चाहे सुन्दर सही, पर इसकी आत्मा वैसी ही तग, सीली और गन्दी है।"

"आत्मा की बात तो मैं नही कहता," मैंने कहा, "मेरा यहाँ के वासियों से कुछ वैसा वास्ता भी नही, पर इसका बाहर तो बडा सुन्दर और स्वच्छ है।"

"तभी तो पडे है," वे बोले थे, "नही तो कभी के चले जाते, 'देववाणी' के लेख पढ़कर हम समझते थे कि देवाजी बडे पैमाने पर सैनिक चाहते है, जो देश ही नही, ससार भर में चरित्र-निर्माण का आदर्श रखेंगे; मानव-मानव को समझने मे सहायता देंगे; दिमागों का कूड़ा-कचरा हटाकर उनमे नयी रोशनी का प्रकाश भर देंगे, लेकिन देखता हूँ, ऐसा कुछ नही होगा। हो सकता है इस वीराने मे हम एक बडा नगर बसाने मे सफल हो जायें, जहाँ नयी-दिल्ली के ऐश-आराम मयस्सर हों, लेकिन वे आदर्श जिन्हे सामने रखकर यह नगर बसाना शुरू किया गया था, शायद इसकी नीवों ही मे दफ़न हो जायेंगे।"

मधवार साहब लम्बे-ऊँचे आदमी थे। पैतालिस-पचास वर्ष की उम्र, गोरे-चिट्टे, लेकिन सुन्दर उन्हे नही कहा जा सकता। उनका

माथा बहुत छोटा था। सिर के बाल यद्यपि वे पीछे को सँवारते थे, तो भी तीन-चार अंगुल से अधिक माथा न निकलता था। तीखी नाक, उभरे कल्ले, लम्बा क़द और घुँघराले, पीछे को बने हुए, खिचड़ी बाल। तन पर कमीज के साथ धोती। उनके चेहरे पर कुछ संन्यासियों की-सी रुखाई थी। उनके पिता के पास काल्टैक्स की एजेन्सी थी। उन्होंने कमाया भी बहुत था। बड़े भाई के साथ वे भी काम देखें, ऐसी उनके पिता की इच्छा थी, पर मधवार साहब १९२१ के आंदोलन में जो एक बार जेल गये तो सत्य की खोज करते हुए कई आश्रमों से होकर देवनगर आ पहुँचे। देवसेना के हिसाब-किताब की देख-रेख उनके जिम्मे थी, जिसमे कुलबीरसिह उनके साथ हाथ बँटाता था। जिन्दगी की अनगिनत ठोकरें खाने और एक-के बाद दूसरी नौकरी करने के बावजूद अब भी उनके अन्तर की आग वैसी ही जल रही थी। अब भी वे वैसे ही आदर्शवादी, आशावादी और उत्साही थे। कही समझौता नही, कही असत्य नही, सुख-दुख से लापरवाह होकर वे जो मार्ग चुनते, उस पर बढ़े जाते। पर कोरे आदर्श, कवि की कल्पना में हों तो हों, दुनियादार की कल्पना में नही। फूल तक पहुँचने के लिए काँटों से हाथ नही बचाये जा सकते। काँटों से हाथ छलनी हो जायँ, इसकी परवाह मधवार साहब को न थी, पर जहाँ फूल की इच्छा ही धुँधली हुई, अथवा आदर्श के रग मे रगे फूल की जगह कागजी फूल से गुलदान सजाने का आदर्श बना, उन्होंने संस्था छोड़ी। वे आदर्श-पुष्प की खोज में एक के बाद दूसरी सस्था को छोड़ते चले आये थे।

मधवार साहब से मिलने के बाद उनके प्रति ऐसी ही धारणा मेरे मन में बनी। "अच्छे सैनिकों को, कार्यकर्ताओं को ये नही चाहते," मधवार साहब ने कहा था, "अपनी ही बात लीजिए। आप आये थे

तो स्वयं देवा जी ने आपके काम और स्वभाव की प्रशंसा की थी, पर अभी जनरल मीटिंग में आपके विरुद्ध प्रस्ताव आया है।"

"मेरे ?"

"हाँ तीरथराम और हरमोहन ने रखा है।"

"मेरे विरुद्ध क्या शिकायत है ?"

"यही कि आप देवमण्डल की आजाद फिजा के योग्य नहीं, अपने में बन्द रहते हैं, देवमण्डल की सरगर्मियों में भाग नहीं लेते।"

"फिर क्या तय हुआ ?"

"देवा जी ने उस प्रस्ताव को फिर कभी विचार करने के लिए स्थगित कर दिया। स्थगित तो कर दिया, लेकिन लगता है कि आपसे वे प्रसन्न नहीं। शायद आपने उनके यहाँ कम हाजिरी दी है, या आपसे उनकी पत्नी नाखुश है। देखिए, यदि आपको यहाँ रहना है तो आपको माता जी, हरमोहनसिंह, तीरथराम, सुदर्शनसिंह आदि से बनाकर रखनी चाहिए। नन्दलाल या हमसे वे ऐसे खुश नहीं।"

मेरा मन बड़ा खिन्न हो रहा था। तीरथराम क्यों नाराज है, यह मैं अब जान गया था, लेकिन उसकी शिकायत को दूर कर देना मेरे बस की बात न थी। रही माता जी, जाने क्यों उन्हें 'नमस्कार' करना भी मुझे अरुचिकर लगता था। उस नारी का अहम् मुझे बड़ा छोटा, बड़ा थोथा लगता था। नौकरों के क्वार्टरों में एक दिन मैं प्रेस के फोरमैन-मैनेजर सन्तोखसिंह के पास बैठा था कि माता जी की बात चल पड़ी।

"माता जी को तो थापा ने ठीक उत्तर दिया था," सन्तोखसिंह ने कहा।

"थापा ने, थापा कौन?"

"रामा थापा।"

"चौकीदार?"

"हाँ-हाँ! माता जी यहाँ के सब देवसैनिकों और मुलाजिमों को अपना व्यक्तिगत नौकर समझती हैं," सन्तोखसिंह ने कहा, "और आशा करती हैं कि जब भी वे उनके सामने पड़ें, उन्हें नमस्कार करें— एक बार नहीं, जितनी बार भी मिलें। चाहते देवा जी भी यही हैं, पर उनका ढंग दूसरा है। यदि कोई सैनिक या नौकर उन्हें 'नमस्कार' न करे तो वे सदा उसे पहले 'नमस्कार' करते हैं, बार-बार उसे 'नमस्कार' करते हैं, यहाँ तक कि वह उन्हें देखते ही हाथ जोड़ देता है। लेकिन माता जी को यदि कोई 'नमस्कार' न करे तो उनके माथे पर बल पड़ जाते हैं। सैनिकों अथवा बड़े नौकरों से तो वे कुछ नहीं कहती, पर छोटों को डाँट देती हैं। रामा थापा को एक दिन उन्होंने डाँट दिया कि तू अपने-आपको नवाब समझता है, सलाम नहीं करता। "हम काम का नौकर है, सलाम का नहीं।" थापा पटाख-से बोला और तबसे माता जी चुप रहती हैं, पर जो उन्हें 'नमस्कार' नहीं करता, उसके विरुद्ध हो जाती हैं। उन्होंने तो रामा थापा को निकलवाने की बड़ी कोशिश की। कई बार आधी-आधी रात को जासूस छोड़े कि देखें वह सोता तो नहीं, पर वह सैनिक-नियंत्रण में पला आदमी, सदा मुस्तैद रहा। एक बार महीने की छुट्टी पर गया तो उन्होंने एक सिक्ख जवान को रखा। उसी महीने दो चोरियाँ हो गयीं। थापा अब भी कभी माता जी को 'नमस्कार' नहीं करता, लेकिन जब तक उसकी रगों में जान और हाथ में बन्दूक है, वह यहाँ रहेगा।"

रामा थापा की इस बात का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उस दिन से मैंने माता जी को 'नमस्कार' करना छोड़ दिया। वे देवा जी के साथ होती तो मैं दोनों को एक साथ 'नमस्कार' कर देता, पर यदि वे अकेली सामने पड़ जाती तो बिना उधर देखे, आँखें झुकाये अथवा दूसरी ओर लगाये मैं गुज़र जाता। रहा हरमोहनसिंह, सो इधर तीरथराम उसके साथ हर वक्त चिपका रहता था। हरमोहन के सच्चे ठहाके (क्योंकि प्रायः वह तीरथराम से मजाक किया करता) और तीरथराम के खोखले अट्टहास (क्योंकि वह हरमोहन को प्रसन्न करने के लिए हँसता) भी यदा-कदा सुनायी दे जाते। और मुझे हरमोहन से मिलने और उस मुलाकात को सन्निकटता से बदलने में बड़ा सकोच होता।

हरमोहनसिंह खासा सुन्दर व्यक्ति था। मँझला कद, गोरा रंग, दहकते हुए गाल और स्वस्थ शरीर! पर वह लगभग अनपढ़ था। सदा भोंडे मज़ाक करता था और क्योंकि दूर के रिश्ते में वह देवा जी का भतीजा लगता था और डेयरी उसके अधीन थी, इसलिए उसकी स्थिति इस साम्राज्य के सूबेदार से कम न थी। वैसा ही उसका दिमाग था। रही उसकी सरदरानी, सो जितना हरमोहन सुन्दर था, उतनी ही वह कुरूपा थी। क़द में हरमोहन से एक-डेढ़ बित्ता लम्बी, उतनी ही मोटी, बड़े-बड़े बाहर को निकले दाँत और चुंधी आँखें। दिन के किसी समय भी देखो, लगता जैसे अभी सोकर उठी है। एक-दो बार मैं गया भी, पर समझ ही न आयी कि उन देवी जी से क्या बात की जाय? सो हरमोहन से भी राब्ता बढ़ाना कठिन था। मधवार साहब की बात तो मेरे दिमाग में गूँज ही रही थी। सो मैंने तय किया कि यदि ये लोग नहीं चाहते तो मैं यहाँ क्यों रहूँ? क्यों न

"मेरे विरुद्ध कोई प्रस्ताव मीटिंग मे पास हुआ है," मैंने जैसे बम फेंका।

देवा जी चुप रहे और मेरी ओर देखते रहे।

"मुझे अभी पता चला है कि देवसैनिक मुझे पसन्द नहीं करते," मै कह चला, "और मेरी उपस्थिति यहाँ अच्छी नहीं समझी जाती।"

मै क्षण भर को रुका। देवा जी फिर भी चुप रहे।

"मैने आपसे पहले ही दिन कारण बता दिया था कि मै यहाँ क्यों आया हूं। निरंजनसिंह जी ने आपकी बड़ी प्रशंसा की थी और मै शान्ति चाहता था। काम मे मै सुस्ती नहीं करता, आपने जो काम दिया, उसे जल्द-से-जल्द और अच्छे-से-अच्छे ढंग पर निबटाने की मैने पूरी कोशिश की है। बाकी यह कि मै अपने में रहता हूँ, अहम्वादी या दुश्चरित्र हूं, ये सब अभियोग गलत है। तो भी मै आपको किसी धर्म-संकट मे नहीं डालना चाहता। आप यदि मुझसे सन्तुष्ट नहीं तो मै कल ही चला जाऊंगा।"

एक और भी प्यारी मुस्कान देवा जी के ओठों पर फैल गयी।

"हाँ, एक रेजोल्यूशन कमेटी के सामने आया है," वे बोले, "लेकिन रेजोल्यूशन आने ही से तो पास नहीं हो जाता।"

पर सैनिकों के कोप की तलवार तो मेरे सिर पर सदा लटकती रहेगी," मैने कहा, "ऐसे वातावरण में शान्ति से कैसे काम हो सकता है?"

देवा जी की मुस्कान कुछ और फैली। "भाई आप कहीं भी जायँ, शान्ति आपको पड़ी-पड़ी नहीं मिलेगी। आपको उसे स्वयं अपनी कोशिशों से प्राप्त करना होगा। आप जंगल में भी चले जायँ, जहाँ आदमी की शक्ल तक नजर न आये तो भी आपको अकंट-

शान्ति प्राप्त न होगी। प्रकृति से समझौता करके अथवा उसपर विजय पाकर आपको अपनी शान्ति पानी या जीतनी पड़ेगी। फिर इन्सानों की बस्ती में, जहाँ हर एक अपनी शान्ति के लिए संघर्ष करता है और सब की कोशिशें एक दूसरी से टकराती रहती हैं, आपको और भी प्रयत्न करना पड़ेगा।"

वे उसी प्रकार मुस्कराते हुए निमिष भर को रुके। लेकिन मैं चुप रहा और सुनता रहा।

"मैंने आपको एक दिन पहले भी कहा था कि यहाँ अठारह-बीस घर हैं। आपको सबसे मिल-जुलकर रहना पड़ेगा। नहीं तो आपका रहना कठिन हो जायगा।"

"मैंने तो कोशिश की, नन्दलाल के यहाँ मैं जाता हूँ, एक दो बार और सब के यहाँ भी गया हूँ, पर यह तो आप मानेंगे कि मैत्री इकतरफा तो नहीं हो सकती। कोई मुझे चाहेगा तो मैं क्यों न चाहूँगा।"

देवा जी हल्के-से हँसे। बहुत ही हल्के-से। ऐसे कि उनकी हँसी कमरे के बाहर सुनायी न दे।

"यही तो आप गलती पर हैं। कोई आपको चाहे.... लेकिन इसे उलट दीजिए तो....आप किसी को चाहें तो क्या वह आपको न चाहेगा?"

निमिष भर के लिए मुझे कोई उत्तर न सूझा। फिर मैंने कहा, "लेकिन मैं तो बाहर से आया हूँ। देवमण्डल और देवनगर के लिए नया हूँ। देवनगर का तो सिद्धान्त ही प्रीति और प्यार के घेरे को बढ़ाना है। यदि देवनगर के वासी उपेक्षा और घृणा से काम लेंगे तो उनका मिशन कैसे सफल होगा। उन्हें तो हर आने वाले को अपने

घेरे में लेना चाहिए। मेरी बात छोड़िए। मैं तो बाहर से आया हूँ। यहाँ तो मैं देवमण्डल के सदस्यों में भी वह प्रीति नहीं देखता जो देवमण्डल का ध्येय है।"

मेरी बात सुनकर देवा जी के चेहरे पर हलकी-सी छाया दौड़ गयी और उनके माथे पर बड़े हलके से, चिढ़चिढ़ाहट भरे तेवर बन गये। पर दूसरे क्षण फिर वही मुस्कान उनके मुख पर खेलने लगी।

"देखो भाई" उन्होंने कहना शुरू किया, "देवनगर के वासी सचमुच तो देवनगर से आये नहीं। उन्हीं तंग, अँधेरी गलियों और मुहल्लों से आये है, जहाँ सारा हिन्दुस्तान बसता है। वही उपेक्षा घृणा, वही ईर्ष्या-दाह, नफरत-कदूरत, खुशामद और बदगोई, अहम और अहंकार उनमे भी है। एक दम वह दूर न होगा। धीरे-धीरे उसे दूर करना होगा।"

कुछ क्षण वे चुप रहे। जेब से रूमाल निकालकर उन्होंने अपने चश्मे को पोंछा, फिर वे मेज की ओर मुड़े और उन्होंने फाउण्टेनपेन उठा लिया।

लेकिन मै अभी बैठा था। वे फिर मेरी ओर झुके, "आप जाइए और शान्ति के साथ काम कीजिए!" वे बोले, "कमेटी में क्या होता है, क्या नहीं होता, इसकी चिन्ता न कीजिए। सबसे मिल-जुलकर रहिए, सेना की सरगर्मियों में दिल से भाग लीजिए। आप रेडियो सुनने आने लगे थे, मैं खुश हुआ था। फिर आया कीजिए। तीरथराम आदि के साथ आप खुश नहीं, तो यहाँ चले आया कीजिए। दिलजीत आ रहा है, वाणी है, मधु है, उनके साथ खेलिए। अपने खोल से बाहर निकलिए। एक दूसरे के विरुद्ध लोग क्या कहते हैं, उसे न सुनिए, एक दूसरे की प्रशंसा में जो कहा जाता है, उसपर ध्यान

दीजिए। दोषों के बदले उनके गुण देखिए। दिल में उन्हें स्नेह देना, प्यार करना और उनके काम आना सीखिए! निश्चय ही आपको सुख भी मिलेगा और शान्ति भी।"

और वे अपने आगे रखे मसौदे को देखने लगे। मैं उठा। "मैं आपका बड़ा आभारी हूँ," मैंने कहा, "इस आश्वासन के लिए भी और इस नसीहत के लिए भी। आपकी नसीहत पर मैं चलने की कोशिश करूँगा।"

और 'नमस्कार' करके मैं बाहर निकल आया।

गुम्बद से बाहर निकला तो मेरे अन्तर का क्षोभ लगभग मिट गया था। देवा जी की बातों से पूर्णतः मेरी तसल्ली हो गयी हो, ऐसी बात न थी। मेरी दशा शिशिर के उस आकाश की-सी थी, जिसपर सुबह गहरे-काले बादल और धुंध छायी हो, लेकिन दोपहर होते-होते बादल हट जायें, धुंध छंट जाय और झीनी-झीनी धूप सूर्य के अस्तित्व का परिचय दे। सामने नये बने बैडमिण्टन-कोर्ट में खेल जोरों से चल रहा था और हरमोहन तथा गुरबचन में जोरों की बाजी लगी थी। शटल-कॉक जाल के ऊपर ही ऊपर इधर-से-उधर उड़ रही थी। साथ के कोर्ट में वाणी अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी। मन हुआ कि जाऊँ, पर मेरी दृष्टि चुपचाप खड़े तीरथराम पर गयी और न जाने मन को किस अनजाने संकोच ने बाँध लिया। क्षण भर ऊपरी मुस्कान की झलक दिखाने वाले शिशिर के सूर्य पर फिर से धुंध का गहरा काला बादल छा गया!

तभी एक तांगा बीच की कोठी के पास आकर रुका और बैडमिण्टन-कोर्ट में खेल चलते देखकर खुशी की एक किलकारी

मारता हुआ दिलजीत उसमें से कूदा। माता जी अपनी कोठी के बरामदे में खड़ी शायद उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसके उतरते ही वे उस ओर भागी, लेकिन दिलजीत माँ की ओर नही गया, बाहों में कोट उतारता हुआ, सीधे बैडमिण्टन कोर्ट की ओर भागा।

तब चकित-हो मैंने देखा कि सारे देवनगर को अपनी जायदाद और देवनगर-वासियों को अपना गुलाम समझने वाली वह अभिमानिनी नारी एकदम दासियों की तरह आगे बढ़कर अपने बेटे का उतरता हुआ कोट थामने बढ़ी और उसका कोट लेते-लेते वह कई क़दम उसके साथ भागती चली गयी।

कोट अपनी माँ के हाथों सौंप दिलजीत रुका नही, वह भागता चला गया। हरमोहन ने आगे बढ़कर उसे अपना रैकेट दे दिया और गुरबचन तथा दिलजीत मे खेल शुरू हो गया और शटल-कॉक और भी जोरों से जाल के ऊपर उड़ने लगी।

"नाश्ता कर लो, फिर खेलना", "नाश्ता करलो फिर खेलना" कहते हुए माता जी जरा दूरी पर खड़ी आग्रह करती रही और फिर दिलजीत के खेल मे रत होने पर कोट को झाड़ते हुए वापस आ गयी।

जाने क्यों मेरा मन एक साथ ही सुख और दुख के मिले-जुले भावों से भर गया। शिशिर का वही आकाश और वही धुँधियाली के झीने पर्दे में से झाँकते हुए सूर्य की कान्ति......

सारे देवनगर का चक्कर लगाकर प्रेम और टयूब-वैल मे अटकता-भटकता, देवनगर के सामने की मरुभूमि मे अकेले खड़े महान बरगद के नीचे सुसताता, परे कपास के छितरे खेत की परिक्रमा करता हुआ जब मै लौटा तो खेल मे और भी सरगर्मी आ गयी थी।

बड़ी-बड़ी आँखे

गुरबचन देवनगर का बैडमिण्टन चैम्पियन था, पर दिलजीत भी शहर के गवर्नमेण्ट कॉलेज मे पढ़ता था। उसका खेल गुरबचन से घटकर न था। देवा जी भी पहुँच गये थे और कई दूसरे देवसैनिक बैडमिण्टन-कोर्ट के इर्द-गिर्द खड़े खिलाड़ियों को बढ़ावा दे रहे थे। लेकिन मैंने देखा—दिलजीत के 'शॉट' या 'प्लेसिंग' पर जो शोर बुलन्द होता, गुरबचन के खेल पर उसमे कमी आ जाती। प्रोत्साहन की धुनकी एक के लिए अपनी टकार से रूई को छत तक उड़ा देती, लेकिन दूसरे की बारी पर 'वाह वा' के फाहे जरा-सी ऊँचाई तक ही उड़कर रह जाते।

मै चुपचाप एक ओर खड़ा यह सब देख रहा था कि किसी ने हलके से मेरी बाँह को छुआ।

मै चौककर मुड़ा। वाणी थी—हाथ मे रैकट और आँखों मे वही फैलाव, गहराई और निमन्त्रण!

"आइए न संगीत जी। हमारी बाज़ी ख़त्म हो गयी। अब आप खेलिए।"

"लेकिन मुझे तो बैडमिण्टन वैसा आता नही। रैकट भी मेरे पास......"

लेकिन वाणी ने मेरी किसी आपत्ति पर ध्यान नही दिया। मेरी आस्तीन थामे हलके से मुझे खीचती हुई वह ले गयी।

कोर्ट मे पहुँचकर अपना रैकेट उसने मेरे हाथ मे दिया और एक ओर खड़ी होकर वह मेरे अटपटे खेल पर मुझे बढ़ावा देने लगी।

शायद दूसरी बाजी शुरू थी, जब मेरा ध्यान दूर बरगद की ओर चला गया। जाने कब तीरथराम वहाँ से खिसक गया था और दूर कही क्षितिज पर झाँकती हुई घटा-सा घिरा था।

———

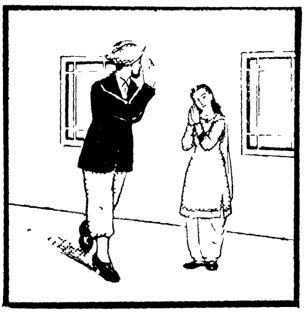

शिशिर के शीत और पाले के कारण डेयरी की भैंसों और गायों का दूध सूख गया और दूध के साथ मक्खन की मात्रा कम हो गयी। किचन में हर दूसरे-तीसरे शलजम की तरकारी बनती थी। देवसेना प्रति व्यक्ति आठ रुपये खाने के लेती थी। युद्ध अभी शुरू ही हुआ था और कीमतें चढ़ी न थीं। आठ रुपये में दो रुपये प्रति व्यक्ति सेना बचा लेती थी। कारण कि जो तरकारी देवनगर के खेतों में लगती थी, वही किचन में पकती थी। मूलियों और शलजमों की बहार थी और देवताओं को हर दूसरे-तीसरे इन विटामिनों से भरपूर तरकारियों का स्वाद मिलता था। शुरू-शुरू में जो भी चाहता, एक आना देकर एक आउंस मक्खन की टिकिया ले लेता। शलजम

की तरकारी बिल्कुल हलवे की तरह पकती। मैंने भी पहली बार दूसरों की देखा-देखी उसमें मक्खन की टिकिया डाली तो सचमुच बड़ा स्वाद आया। फिर तो मैं हर दूसरे-तीसरे, जब भी शलजम की तरकारी पकती, उसमें मक्खन की टिकिया जरूर डालता। लेकिन ज्यों-ज्यों भैंसों और गायों का दूध घटता गया, मक्खन की टिकियाँ कम होने लगी। इसको या उसको 'इनकार' होने लगा। तब नदलाल और मधवार साहब ने मेरा ध्यान इस ओर दिलाया कि मक्खन के वितरण से ही पता चल जायगा, कौन देवा जी के निकट है और कौन दूर! जो निकटस्थ लोग थे उनको मक्खन की टिकिया (होने पर) जरूर मिलती। पहले देवा जी और उनका परिवार, फिर हरमोहन-सिह, फिर गुरबचनसिह, फिर हरनामसिह, फिर तीरथराम—कुछ इस क्रम से मक्खन का वितरण होता।

धीरे-धीरे गायों का दूध भी कम हो गया। जिसे सेर भर मिलता था, उसे तीन पाव मिलने लगा। छटनी का कुठार पहले उन्हीं लोगों पर गिरा जो अल्पसख्यक थे—दूसरे शब्दों मे जिनसे हरमोहन सिह अथवा उसके चापलूस प्रसन्न न थे।

बाते बड़ी छोटी-छोटी थी—दूध, मक्खन, सब्जी-तरकारी, खेल-कूद—पर इन्ही नन्ही-नन्ही बातों से दिलों मे दरारे पड़ती जा रही थी और मण्डल के उद्देश्यों मे सैनिकों की आस्था उठती जा रही थी। मुझे व्यक्तिगत रूप से कोई कष्ट न था, पर यह बात ठीक थी कि देवनगर मे वैसा भेद-भाव था और जिन उद्देश्यों को सामने रखकर देवनगर की स्थापना हुई थी, वे रेगिस्तान मे सूखती हुई जलधारा सरीखे दीखते थे। मुझे लगता था कि मैं देवनगर मे नाहक आया, निरजनसिह भी यहाँ आकर कुछ दिन रहते तो उन्हे देवनगर

के प्रेम और प्यार की हकीकत मालूम हो जाती। और मेरी सहानुभूति धीरे-धीरे उन लोगों के साथ होती जा रही थी, जिन्हे देवनगर मे अच्छा न समझा जाता था, जो देवा जी और उनके चापलूस रिश्तेदारों और सैनिकों के कृपाभाजन न थे, लेकिन जो सिद्धान्त पर चलने को समझौता करने से कही अच्छा समझते थे।

लेकिन देवनगर के सचालक और उनके प्रिय सैनिक जहाँ मेरे मन से दूर होते गये, वहाँ उनकी बेटी धीरे-धीरे—लगभग मेरे अनजाने, अनचाहे—मेरे निकट आती गयी। फिर एक ऐसी बात हुई कि उसके और अपने मध्य जो दूरी मैंने सयत्न बना रखी थी, वह सहसा जाती रही।

हुआ यों कि उन्ही दिनों मैंने एक छोटा-सा मुसलमान नौकर रखा। मुझे नौकर की कुछ वैसी आवश्यकता न थी, पर देवा जी ने 'देववाणी' का उर्दू-संस्करण भी निकालना शुरू कर दिया था और मुझे उसका सम्पादक बना दिया था। सम्पादक तो क्या, मैं वास्तव मे अनुवादक था, क्योंकि अधिकतर मेरा काम उनके पुराने लेखों के अनुवाद करके एक-आध उर्दू कविता अथवा कहानी की चटनी के साथ उन्हे 'देववाणी' के उर्दू पाठकों के समक्ष रख देना था कि यदि देवा जी के मधु-मीठे हलवे जैसे लेखों के आधिक्य से पाठक को अरुचि हो तो वह अपने मुँह का स्वाद बदल ले।

देवमण्डल और 'देववाणी' का दफ्तर डचोढ़ी की बीच की म्यानी मे था। दफ़्तर मे मेरे बैठने की जगह न थी, कातिब भी नीचे कोने के तहखाने मे बैठता था, जिसमे देवा जी ने रोशनदान बनवा दिया था। उस रोशनदान के बावजूद दिन को वहाँ बत्ती जलानी पड़ती थी।

इसीलिए मै अपने कमरे में ही सम्पादन अथवा अनुवादन का सब काम करता था।

शिशिर जवानी पर था—धुध, हवा और बून्दनियाँ न हों तो कोहरा और ओस ! सुबह उठने तो बरामदे भीगे होते और पग-डडियों पर पॉव फिसलते। कई बार दिन-दिन भर झड़ी लगी रहती। मुझे देवा जी से लेख लेने के लिए दस नम्बर की कोठी के गुम्बद तक जाना पड़ता था, फिर अपने कमरे मे आकर मैटर तैयार करके कातिब को पहुँचाना, लिखे जाने पर कापियों को पढना और उन्हे चार फ़र्लांग की दूरी पर ट्यूब-वैल के पास प्रेस मे पहुँचाना पड़ता। इस सबमे मुझे बड़ी परेशानी होती। तब सोचता कि यदि कोई चपरासी छोकरा होता तो मेरा बहुत-सा समय बेकार जाने से बच जाता। अपनी बात मैंने यों ही एक दिन नन्दलाल से कही। वह बोला—"आजकल दफ़्तर की व्यवस्था भी हरमोहनसिह के अधीन है। तुम पर वह खुश होता तो इसकी कुछ-न-कुछ व्यवस्था कर देता, पर अब यह मुश्किल है। हॉ, तुम चाहो तो एक देहाती छोकरा इस काम के लिए रख लो। दो-तीन रुपये महीने पर मिल जायगा।"

"सिर्फ़ दो-तीन रुपये पर ?" मैंने चकित होकर पूछा।

"और क्या !"

"तो भाई प्रबन्ध कर दो, बडा आभार मानूँगा।"

हालाँकि मैंने नन्दलाल से कह दिया था, पर जाने मुझे उसकी बात पर विश्वास नही आया, या मुझे नौकर की वैसी आवश्यकता न थी, इसलिए वह बात मेरे मन से उतर गयी।

जनवरी के शायद आठ-दस दिन बीत चुके थे। शिशिर का आकाश उन दिनों प्रायः मेघाछन्न रहता था। सुबह आसमान पर

बादल और जमीन पर कुहरा छाया होता। दोपहर के करीब धुंध और बादल छँटते। सूरज यक्ष्मा के रोगी की श्वेत मुस्कान ओठों पर लाकर जैसे कुछ क्षण को झाँकता, फिर उन्ही बादलों मे छिप जाता। देहाती कहते कि सूरज निकलता पीछे है, अस्त पहले हो जाता है।

दिन के दस बजे होंगे। मै कमरे मे खिड़की के पास बैठा लिख रहा था। एक रात पहले वर्षा हुई थी, पर दिन भर पानी बन्द रहा था और वे पगडंडियाँ जिन पर सुबह पाँव फिसलने लगे थे, शाम होते-होते ठीक हो गयी थी। पिछली रात आसमान बिल्कुल साफ था और एक-डेढ़ बजे रात के करीब चाँद और दो-एक तारे भी निकल आये थे। लेकिन सुबह हुई तो आकाश फिर मेघाच्छन्न ! सूरज कब निकला, इसका पता नही चला। तभी पूरब दिशा एकदम गहरी नीली हो गयी और देखते-देखते वह नीलिमा बढ़कर हमारे सिरो पर छा गयी और पानी बरसने लगा।

मेरी कोठी के पश्चिम की ओर खेत-ही-खेत थे। नजदीक ही पत्थरचट्टी का सरवनसिंह अपना खेत जोत रहा था। बैलों की घंटियाँ सन्नाटे को भर रही थी और सरवनसिंह जाने किस बारहमासी कविता की केवल एक ही पंक्ति बार-बार गा उठता था :

माघ, मारिया दसरथ फिरे भौंदा
कित्थे लियाये ते उन्हां पिलाये पानी

लेकिन पानी जोर से पड़ने लगा और राजा दशरथ की व्यथा भूलकर वह बैलों को पनाह की खोज मे हाँक ले चला और देखते-देखते जहाँ उसके हल ने लीकें डाल दी थी, वहाँ पानी भर आया।

बाहर कोठी का लॉन तालाब बन गया और उसमें बुलबुले फूटने लगे। बुलबुले फूटने के सम्बन्ध में नन्दलाल के अधीन काम करने वाले किसान-मजदूर कहते थे कि बुलबुला तभी फूटता है जब हवा नहीं होती और हवा नहीं होती तो बादल घुल जाते हैं और बादल घुल जाते हैं तो झड़ी लग जाती है और पानी पर बुलबुले फूटने लगते हैं।

मैं कम्बल ओढ़े दरवाजे में आ खड़ा हुआ। सामने बनौली के आम, जामुन और बेर सब खामोश खड़े थे। पूरब की ओर कुएँ के बरगद पर तीन गिद्ध अपनी नंगी गर्दनों को पंखों में छिपाये जैसे सो गये थे। वट के नीचे एक भैंस खड़ी चुपचाप जुगाली कर रही थी। पानी वट के घने पत्तों की छतरी को भेदकर उसकी पीठ पर गिरने लगा था। वह कभी-कभी फुरेरी लेती थी और कभी घुमाकर दुम पीठ पर झटक देती थी। पर ऊपर से गिरती धारें मक्खियाँ तो थीं नहीं कि हट जातीं, इसलिए वह दुम हिलाना छोड़ कर फिर जुगाली करने लगती।

वहीं खड़ा, चौखट से टेक लगाये, मैं शिशिर की इस देहाती बरसात का आनन्द ले रहा था कि सामने सड़क पर हल्की-सी झुकी हुई कमर लिए हुए एक बुढ़िया और उसके साथ एक छोटा-सा बारह-तेरह साल का लड़का आते दिखायी दिये।

'वर्षा में भीगे, ठिठुरे ये किस मुसीबत में घर से निकल पड़े हैं?' मैंने सोचा।

लेकिन तभी वे मेरी कोठी के फाटक में दाखिल हुए। मैं चौंका। मेरे देखते-देखते वे बरामदे में आ गये। दोनों ने झुककर सलाम किया। लड़के ने खेस के नीचे मिलिटरी के बड़े-से कोट का छोटा

कराया हुआ एक कोट पहन रखा था। उसके अन्दर की जेब में उसने एक पुर्जा निकालकर मेरी ओर बढ़ाया।

उसके गीले हाथों से रुक्के के कुछ अक्षर मिट गये थे। तब भी मैंने पढ़ लिया। नन्दलाल ने भेजा था कि इस छोकरे को नौकर रख लो। तीन जमात पढ़ा है। गरीब विधवा माँ का लड़का है। मन लगाकर काम करेगा। मुझे तीन रुपये महीना दे देना।

क्षण भर के लिए मैंने लड़के की ओर देखा — गोरा-चिट्टा रंग, तीखे नक्श, ज़रा झुकी गर्दन और नमित आँखें।

"क्या नाम है ?"

"गुलाम नबी !"

"आगे क्यों नहीं पढ़ते ?"

उत्तर माँ ने दिया कि घर में तो खाने को भी नहीं है, पढ़े कहाँ से !

"जो तीन रुपया महीना तुम इसके लिए चाहती हो, वह मैं दे दूँगा। हर महीने की पहली तारीख को यह आकर ले जाया करे, पर तुम इसे स्कूल भेजती रहो," मैंने कहा।

लेकिन समस्या इतनी सरल न थी। माँ ने बताया, पढ़ाई की फीस और किताबें यह सब कहाँ से लायगा। अच्छा है कि जितनी जल्दी हो, कमाने लगे।

तभी मेरे दिमाग में प्रैक्टिकल स्कूल की याद हो आयी, जो देवा जी ने बाकायदा तो नहीं (क्योंकि बिल्डिंग पूरी न हुई थी) पर बेकायदा ढंग पर खोल दिया था और उसमें देवसैनिकों ही के नहीं, नौकरों के बच्चे भी दाखिल थे। मैंने मन-ही-मन कहा— लड़का होनहार है, क्यों न इसे उस स्कूल में भरती करा दिया जाय और मैं

कुछ निश्चिन्त होकर बोला—"माई तुम फिकर न करो, इसकी नौकरी का भी प्रबन्ध हो जायगा। और पढ़ाई का भी। कल से इसे भेज देना।"

वे दोनों सलाम कर मुड़े। बुढ़िया ने सलाम करने के साथ मुझे दुआयें भी दीं।

"अभी रुको, बरखा थम जाय तो जाना।"

"हमें तो अभी तीन मील जाना है सरदार जी, अब पानी कुछ कम हो गया है, बढ़ गया तो मुश्किल होगी।"

और वे दोनों चले गये।

झड़ी लगी हुई थी, पर पानी बेहद नन्ही-नन्ही बूंदियों में पड़ रहा था। मैं वहीं बरामदे में खड़ा उन दोनों को जाते देखता रहा। और उस समय तक खड़ा रहा जब तक दोनों माँ-बेटा काले-से दो बिन्दु बनकर आँखों से ओझल नहीं हो गये।

देवनगर का वह रिमझिमाता शीतल प्रभात सदा के लिए मेरे मस्तिष्क में अंकित हो गया, क्योंकि शिशिर के उस भीगते दिन में उस माँ-बच्चे ने केवल तीन रुपये महीने की नौकरी के लिए तीन मील से आकर मेरी आँखों से पर्दा हटा दिया था। जैसे शीशों की बड़ी-बड़ी खिड़कियों वाले खुले, रोशन, हवादार कमरों में रहने वाले कभी कल्पना भी नहीं कर सकते कि यह खिड़कियाँ—मामूली लकड़ी और शीशे की बनी खिड़कियाँ—टुण्डरा के बर्फीले मरु में चर्बी की मोमबत्ती से रोशन दड़बों के अंधेरों में रहने वाले चुकचियों के लिए विभूतियों का दर्जा रखती हैं। उसी तरह मेरे लिए यह बात लगभग अचम्भे के बराबर थी कि एक महीने बाद मुझे

तीन रुपये पाने की उम्मीद में कोई उस पानी और ठंड में तीन मील कीचड़ भरा मार्ग तय करके आ सकता है।

यह ठीक है कि इर्द-गिर्द के गाँवों से छः आना, आठ आना रोज पर काम करने मजदूर जाते थे। किसान प्रातः के अँधेरे में उठ कर खेतों को चल देते। नूर के तड़के—जब अभी ओस पड़ रही होती और शिशिर का चाँद प्रात के कोहरे में अपनी किरणों को समेट कर सिकुड़ा-हुआ सा अम्बर में ठिठुरा दिखायी देता और चिड़ियाँ तक अपने घोंसलों की गर्मी में सोयी होतीं और शीत पक्की दीवारों को भेदकर अन्दर चला आता—सरवन सिंह माघ महीने की महिमा गाता अपने बैलों को लिये हुए खेत जोतने आ जाता। लेकिन यह सब मुझे बड़ा रोमानी लगता—रोमानी और दिलकश! किन्तु उस बरसते पानी में सिर्फ तीन रुपये महीने की सूखी (बिना खाने कपड़े की) नौकरी के लिए गुलाम नबी और उसकी बुढ़िया माँ के चले आने से जैसे गाँव और उसकी भयानक गरीबी का पहला अहसास मेरी नसों में दौड़ गया।

जाकर कमरे में काम करना मेरे लिए दुष्कर हो गया। पानी फिर जोर से गिरने लगा था। 'वे दोनों अभी कहीं रास्ते ही में होंगे'—मैंने सोचा और उठकर मैं कमरे में घूमने लगा। बाहर एक कौआ इस गिरते पानी में बेपरवाह, भूख से अथवा अन्तर की आकुलता से कभी इधर-से-उधर, कभी उधर-से-इधर उड़ जाता और लॉन की गोंदनी में छिपी कोई चिड़िया कभी जोर से एक लम्बी सीटी भर देती। दृष्टि की सीमा तक महीन बूँदों की चादर, पीले खेत, ठिठुरे, सिकुड़े खामोश पेड़ पौधे, सोये गिद्ध और जुगाली करती भैंसे.........

शाम से कुछ पहले ही पानी थम गया। मैंने कम्बल चारपाई पर फेंक सूट पहना। पतलून के पाँयचे मौजों में दिये, एक हाथ में छड़ी और दूसरे में टार्च उठायी, और फिसलने से बचता हुआ मधवार साहब की कोठी की ओर चल दिया। वे प्रैक्टिकल स्कूल के सेक्रेटरी नियुक्त हुए थे और मैंने देवा जी से मिलने के पहले उनसे बात करना ठीक समझा।

कोठी पर जाकर मैंने दस्तक दी तो उन्होंने कहा—"दरवाजा खुला है, आ जाइए।" मैं अन्दर गया। वे तूश ओढ़े अपनी बेटी को पढ़ा रहे थे। मेरे जाते ही उन्होंने किताब रख दी। उनकी बेटी जरा परे हो गयी।

"कहिए, इस समय कैसे ?"

मैंने गुलाम नबी की बात कहकर अपनी इच्छा प्रकट की कि लड़का होनहार लगता है, कुछ पढ़ जायगा तो उसकी जिन्दगी सँवर जायगी। आदि आदि.....

मधवार साहब मुस्कराये। फिर उन्होंने कहा—"प्रैक्टिकल स्कूल गुलाम नबी जैसे लड़कों के लिए नहीं है !"

मैं चुप रहा। वे अपनी बात की सफाई देंगे, इस उत्सुकता में बैठा रहा। इस बीच में श्यामा ने दो-एक बार कनखियों से मेरी ओर देखा। जब मैं गुलाम नबी की बात कह रहा था, वह निरन्तर मेरी ओर देख रही थी। अन्तिम बार उसे मेरी ओर देखते हुए मधवार साहब ने देख लिया। लड़की से उनकी निगाहें मिलीं, वह अचकचा कर उठी और कापी-किताबें लिये दूसरे कमरे में चली गयी।

कुछ क्षण बाद मधवार साहब फिर बोले, "देवमण्डल के पुराने उद्देश्य यदि कायम रहते, इसके काम का घेरा फैलता, शहर-शहर

और कस्बे-कस्बे सैनिक बनते तो गुलाम नबी या उस जैसे होनहार देहाती लड़कों को पढ़ाना मुश्किल न होता, पर इस प्रैक्टिकल स्कूल में सम्भव नहीं।"

क्षण भर चुप रहकर वे फिर बोले—"मैंने तो पिछले दिनों त्यागपत्र दे दिया था कि मैं यहाँ कोई उपादेय काम नहीं कर रहा, मुझे छुट्टी दे दी जाय। पर देवा जी माने नहीं। उन्होंने कहा कि मैं प्रैक्टिकल स्कूल का मंत्री बन जाऊँ। स्कूल के बच्चों में काम करने का, उनकी रुचि-अभिरुचि को पहचान कर उनकी शिक्षा को ठीक ढर्रे पर लगाने का, माता-पिता को उनके बच्चों के बारे में ठीक परामर्श देने और यों भारत के भावी नागरिकों के चरित्र को ढालने का अवसर मिलेगा। मैं मान गया। लेकिन जो कीड़ा देवनगर की जड़ों को उनके जमने से पहले खा रहा है, वह प्रैक्टिकल स्कूल को भी लग गया है। माता जी स्कूल के होस्टल की मैट्रन बन गयी हैं और अध्यापक देवा जी के बच्चों के साथ दूसरों के बच्चों की अपेक्षा बेहतर सलूक करते हैं, उन्हें ध्यान से पढ़ाते हैं, क्लासों की जितनी कमेटियाँ हैं, उनकी गद्दी पर या तो देवा जी के बच्चे जमे हैं या देवनगर में कोठियाँ बनवाने के लिए जमीन लेने वाले अमीर लोगों के।"

"लेकिन रामा थापा का बच्चा तो.. ..."

"वह देवनगर में आने वालों को दिखाने के लिए है। जैसे नेता कुछ काम केवल वोटरों और चुनावों को सामने रखकर करते हैं, इसी तरह प्रैक्टिकल स्कूल में रामा थापा के बच्चे का प्रवेश भी केवल दिखावे के लिए है। जब बाहर का कोई अमीर आदमी देवनगर देखने आता है तो जहाँ देवा जी अपने बच्चों को दिखाते हैं, वहीं रामा थापा के बच्चे को भी आगे ला खड़ा करते हैं कि प्रैक्टिकल स्कूल कैसे

कूढमग़जों को भी चतुर और मेधावी बना देता है। नतीजा यह होता है कि जब अतिथि प्रैक्टिकल स्कूल को देखकर देवा जी के पास गद्गद मे जाता है तो वे उसके हाथ जमीन के दो टुकड़े बेच देते है और इस तरह देवसेना के एक महीने के खर्च की व्यवस्था हो जाती है।"

और मधवार साहब मुस्कराये। फिर बोले :

"देवा जी के सामने इस समय सबसे बड़ा आदर्श, इस सस्ती खरीदी जमीन को ऊँचे दामों बेचना है, लेकिन इस वीराने मे कोई क्यों आयेगा और क्यों मँहगी जमीन मोल लेगा? इसीलिए उन्होंने प्रैक्टिकल स्कूल शुरू किया है कि मध्यवर्ग के लोग, जो अपने बच्चों को शिमला, मसूरी और नैनीताल नही भेज सकते, यहाँ भेजे और रिटायर होने पर यही बस जायें। यही उनका उद्देश्य है। मै पूछता हूँ कि यदि वे इसमे सफल हो भी जायें तो क्या होगा? दूसरे नगरों और इसमे क्या अन्तर होगा? इससे हमारे इर्द-गिर्द के देहातो को क्या लाभ पहुँचेगा? क्या यह कूड़े के ढेर पर इत्र की शीशी नाक से लगाकर बैठना न होगा?"

किचन में खाने की पहली घटी बज गयी। बातों मे हमे समय का ज्ञान न रहा था। मधवार साहब उठे। "आप इस चिन्ता को छोड़िए, उस बच्चे को नौकर रख लीजिए," उन्होने कहा, "गुलाम नबी-जैसे न जाने कितने लाख बच्चे हमारे देहात मे पड़े अपनी प्रतिभा गँवा रहे है। एक प्रैक्टिकल स्कूल बनने या उसमे एक नबी के भरती होने से क्या होगा? यहाँ तो कस्बे-कस्बे और गाँव-गाँव प्रैक्टिकल स्कूल खुलने चाहिएँ, पर क्या यह काम कोई एक आदमी या एक सस्था कर सकती है? यह काम सरकार का है। मै समझता हूँ, हमे सबसे पहले विदेशी सरकार को निकालना चाहिए, फिर कुछ हो

सकता है। मैं तो फिर जाकर देश की आजादी के संग्राम में जुट जाना चाहता हूँ।"

लेकिन मधवार साहब की बातों और अपने मन में बढ़ते हुए संदेह के बावजूद देवा जी के महान आदर्शों और उनकी गहरी मानव-संवेदना में मेरा विश्वास था। वे अपने स्कूल में एक बच्चे को दाखिल न कर सकेंगे, इस बात पर मुझे विश्वास न हुआ।

नबी दूसरे दिन सुबह ही एक पोटली में सूखी रोटी और अचार बाँधे आ गया। उसे सफाई का सब काम समझाकर, नया लेख लेने के बहाने मैं गुम्बद में पहुँचा और लेख लेने के बाद मैंने नबी की बात चला दी।

"स्कूल की फीस तो पच्चीस रुपये महीना है," देवा जी ने कहा, "उसको पच्चीस रुपया कौन देगा?"

"लेकिन रामा थापा का लड़का . . . . ." मैंने कहना चाहा।

"उसके पच्चीस रुपये सेना देती है और सेना इतनी अमीर नहीं कि इन देहातों के सारे गरीब लड़कों को इस स्तर की शिक्षा दे।"

"पर नबी के होस्टल में रहने की जरूरत नहीं, वह केवल स्कूल में पढ़ लिया करेगा," मैंने कहा, "उसकी कापियों-किताबों का प्रबन्ध मैं कर दिया करूँगा।"

तभी वाणी न जाने कहाँ से हमारे निकट आकर खड़ी हो गयी। वास्तव में उस कमरे में जाते समय मैं बूट और गीली जुराबें उतारने और रूमाल से पैर पोंछकर दरी पर रखने की घबराहट में यह न देख पाया था कि वाणी उस अठकोने गुम्बद के एक कोने में चुपचाप बैठी कोई किताब देख-देख कर नोट ले रही है।

देवा जी के माथे पर हलकी सी खिजलाहट भरी लकीर बन गयी। पर वे कहते गये—"बात किताबों-कापियों की नहीं, प्रैक्टिकल स्कूल और दूसरे स्कूलों में यह फर्क है कि यहाँ बच्चों को कोई खास कोर्स न पढाया जायगा और जिस-जिस विषय मे उनकी रुचि होगी, उस-उस मे उन्हे शिक्षा दी जायगी। खड्डियाँ, बढईगीरी, चित्रकला, निर्माण-कला, गायन-विद्या, इंजीनियरी, राजगीरी—इस सब मे बडा खर्च है। फिर स्कूल के सारे लडकों की वर्दी एक-सी होगी ..।"

जैसे नबी के स्कूल में दाखिल होने के रास्ते मे यही एक रुकावट हो, मैंने कहा, "वर्दी मै बनवा दूँगा।"

देवा जी के ओठों पर बेजारी की एक मुस्कान फैल गयी। मेरी मूढता पर जैसे उन्हे तरस हो आया। उनकी खिजलाहट माथे पर कई तेवरों मे प्रकट हो गयी, पर अपने ऊपर सयत्न सयम रखकर उन्होंने कहा—"बात सिर्फ वर्दी की नहीं, और बहुत-सी बाते है। स्कूल मे अधिकतर अमीरों के बच्चे जायँगे, नबी उतना खर्च नही कर सकेगा, उसमे हीन-भाव उत्पन्न हो जायगा, नबी जैसे बच्चों के लिए एक अलग स्कूल होना चाहिए।"

प्रकट ही देवा जी टाल ही नही, साफ इनकार कर रहे थे, पर मुझे कुछ बच्चों का-सा हठ हो आया। मैंने कहा, "लेकिन रामा शाह का बच्चा दुर्गा ...."

बेसब्री से मेरी बात काटकर देवा जी ने कहा, "थापा का बच्चा काफी समय से हम सब मे रहने के कारण अपनी स्थिति से परिचित है, फिर वह एक अपवाद है।"

तब जाने मुझे क्या हुआ, मैंने मधवार साहब की बात दोहरा दी और पूछा कि जिस स्कूल मे हमारे पड़ोसी गाँव का एक गरीब

होनहार बच्चा जगह नहीं पा सकता, उस स्कूल से क्या लाभ होगा ? इर्द-गिर्द के गाँवों के लिए यह सब क्या अमीरी का दिखावा न होगा ? देहात के बच्चों को उन सब के भाग्य से ईर्ष्या न होगी ? क्या उन सबके मन में हीन-भाव और अमीरों के प्रति विद्वेष पैदा न होगा ? उन्हीं की बात दुहराते हुए मैंने कहा, "आपही कहते थे कि जब तक हमारे इर्द-गिर्द के लोग समृद्ध और खुशहाल न होंगे हम सुखी नहीं हो सकते।"

देवा जी मेरी बात सुनते रहे, पर बेसब्री और अन्तर का क्रोध उनके चेहरे पर साफ प्रकट था। प्रैक्टिकल स्कूल के निर्माण पर उन्हें बड़ा मान था। देववाणी में उसकी प्रशंसा में उन्होंने कई लेख लिखे थे। अमरीका में चलने वाले ऐसे कई स्कूलों का उल्लेख कर उन्होंने दावा किया था कि प्रैक्टिकल स्कूल उनसे किसी तरह कम न होगा। जैसे कलाकार को अपनी कृति की बुराई नहीं भाती, वैसे ही देवा जी को मेरी आलोचना अच्छी न लगी। फिर, मैं उनका एक साधारण नौकर, मुझे क्या अधिकार था उनकी आलोचना करने का ?

लेकिन बड़े यत्न से उन्होंने अपने क्रोध को अन्दर ही रोक लिया और जब बोले तो उनके माथे पर एक भी लकीर न थी और वे मुस्करा रहे थे।

"प्रैक्टिकल स्कूल के महत्व को आप समझे नहीं।" उन्होंने कहना शुरू किया, "हमारे शहरी नागरिकों को गाँवों का कोई ज्ञान नहीं और शायद आप नहीं जानते कि सच्चा हिन्दुस्तान गाँवों में बसता है। आने वाली पढ़ी-लिखी पौध के लिए गाँवों का ज्ञान पाना जरूरी है। प्रैक्टिकल स्कूल के बच्चे शिक्षा पाने के साथ-साथ इर्द-गिर्द के गाँवों में जायेंगे, वहाँ का ज्ञान पायेंगे और देश-सेवा का

काम और भी दक्षता से कर सकेंगे। मैं स्कीम बना रहा हूँ कि गाँवों का अध्ययन करने के साथ-साथ बड़े बच्चे गाँवों में जाकर सेवा भी करें।"

देवा जी बात कहने में दक्ष थे और प्रैक्टिकल स्कूल उनका प्रिय विषय था। वे इस विषय पर निरन्तर बोलते गये। लेकिन उनकी बातें जैसे मेरे कानों में नहीं पड़ीं। प्रैक्टिकल स्कूल की फिजा में देशभक्त पैदा होंगे, इसका मुझे विश्वास न था। होंगे तो देहात का वैसा ऊपरी ज्ञान पाकर वे उससे कुछ लाभ उठा सकेंगे, इसमें मुझे सन्देह था। मेरे खयाल में इससे कहीं अच्छा था कि देवा जी गाँव के छात्रों का एक स्कूल खोलते। बाहर से आकर गाँवों का ऊपरी ज्ञान प्राप्त करने वाले छात्रों की अपेक्षा गाँवों की मिट्टी में पलने वाले छात्र उनको अधिक लाभ पहुँचाने की क्षमता रखते हैं।

पर अपनी शंका मैंने उनके सामने नहीं रखी। सिर्फ इतना कहा कि यदि मेरे नम्र निवेदन का कोई महत्व हो तो इर्द-गिर्द के गाँवों का भी एक-न-एक छात्र प्रैक्टिकल स्कूल में ले लेना चाहिए और नबी मेरे ख़याल में बड़ा अच्छा छात्र साबित होगा।

मेरे हठ और नासमझी पर देवा जी की खिजलाहट फिर उनके माथे पर नये तेवरों के रूप में प्रकट हुई, पर बरबस अपने ऊपर संयम रखकर उन्होंने कहा—"स्कूल की तो एक कमेटी है भाई— प्रिन्सिपल, सेक्रेटरी, मैट्रन और दो प्रोफ़ेसर— सब कुछ उन्हीं के हाथ में है। मेरे अकेले के करने से थोड़े ही कुछ होगा।"

और उन्होंने अपने काम की ओर मुड़ने का अभिनय किया।

इस प्रकार टाले जाने पर भी जैसे मुझे अपनी हार गवारा न हुई। मैंने कहा, "जी, मैं सेक्रेटरी साहब से बात करूँगा।" और नमस्कार करके उठ खड़ा हुआ।

कितनी ही देर से मुझे लग रहा था कि वाणी मेरी ओर निरन्तर तक रही है। पर न जाने क्यों, उससे आँखें मिलाने में मुझे बड़ी झिझक लगी। दरवाजे पर जाकर जूतों से मौजे निकालकर मैं पहनने लगा। तभी वह बाहर जाने के लिए आयी और मुझे रास्ते में देखकर रुक गयी। मौजे पहनता-पहनता मैं एक पैर के सहारे फुदक-कर एक ओर को हट गया। वह बदन बचाकर मेरे पास से निकल गयी।

गुम्बद से चला तो मैं सोच रहा था कि मैंने सेक्रेटरी से मिलने की बात देवा जी से क्यों कही? सेक्रेटरी तो मधवार साहब हैं और मधवार साहब से मैं मिल आया हूँ। फिर यदि देवा जी चाहें तो नबी को स्कूल में दाखिल करने से उन्हें कौन रोक सकता है? यह ठीक है कि उनकी पत्नी का उनपर बड़ा जोर है, पर देवा जी जब चाहते हैं, उससे अपनी बात मनवा लेते हैं। रामा थापा के बच्चे को उन्होंने दाखिल करा दिया, तो नबी को क्यों नहीं करा सकते? लेकिन जब वे नहीं चाहते, फिर मैं क्यों अड़ गया? क्या वाणी की उपस्थिति तो इसका कारण न थी? क्या उसके सामने अपनी हेटी ही तो मुझे असह्य न थी?

'जब मधवार साहब ने मुझे बता दिया था कि यह प्रैक्टिकल स्कूल नबी-जैसे बच्चों के लिए नहीं है, तब मैं क्यों गया देवा जी के यहाँ?' सहसा मेरे विचारों ने पलटा खाया..... पर अन्तर के

किसी गोशे में मुझे ख्याल था कि शायद विरोधी गुट में होने के कारण मधवार साहब अत्युक्ति से काम लेते हैं। देवा जी एक बच्चे के लिए कुछ-न-कुछ प्रबन्ध अवश्य कर देंगे!

कभी देवा जी और कभी अपने आप पर खीझता-झुँझलाता मैं चला जा रहा था कि मेरे कानों में बाँसुरी के धीमे, मीठे स्वर जैसी आवाज आयी—"संगीत जी!"

मैं चौंका। देखा—अपनी कोठी के पीछे—रास्ते से हटकर, वाणी खड़ी है। शायद वह मेरे आगे-आगे आकर वहाँ खड़ी हो गयी थी। उस दिन से लेकर जब उसने बरबस मेरे हाथ में बैडमिण्टन का रैकेट थमा दिया था और मैंने उससे दो-एक बाजियाँ खेली थीं, उसमें और मुझमें कोई विशेष घनिष्टता न बढ़ी थी। एक-दो बार मैं और बैडमिण्टन खेलने गया था और दो-एक बार चलते-चलते रास्ते में उससे अभिवादन का आदान-प्रदान हुआ था, लेकिन हम पहले जितनी दूर थे, अब भी उतनी ही दूर बने थे। यदि मैं उनके घर आता-जाता, माता जी मुझसे खुश होतीं, तीरथराम की ईर्ष्या की छाया सदा सिर पर न मँडराया करती और मैंने अपनी पत्नी की मृत्यु को इतने निकट और इतनी दुःखद परिस्थिति में न देखा होता तो शायद हमारे मध्य का अन्तर कुछ कम हो गया होता। पर तब एक ओर नये विधुर का निराश संकोच था और दूसरी ओर मुग्धा बाला का चकित प्रेम! और दोनों का अन्तर वैसे का वैसा बना था।

वाणी की आवाज से मैं रुक गया, पर उसकी ओर बढ़ा नहीं। वह सकुचाती-सकुचाती चन्द कदम आगे आ गयी। अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसने मेरी ओर उठायी। वर्षा थम गयी थी, पर सारे आकाश पर हल्के-हल्के बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े उड़ रहे थे। उस

ठंडे मटियाले प्रकाश मे वाणी का मुख मुझे एकदम श्वेत लगा। कुछ अन्तर के उद्वेग और कुछ ठंड से उसके कंठ-भाग पर लोम-रंध्र उभर आये थे। उस श्वेत उद्वेलित मुख को देखते-देखते कुछ अजीब-से दया-भाव से मेरा मन आप्लावित हो गया। उसकी बात सुनने को उत्सुक मै खड़ा रहा।

"आप घबराइए नही," मेरे पास आकर उसने बड़े धीरे से—जैसे अपने आप ही से—कहा, "मै दार जी से कहकर उस लड़के को स्कूल मे ऐडमिशन ले दूंगी।"

निमिष भर को वह रुकी, अपनी उन बड़ी-बड़ी गहरी-भोली आँखों को मेरे अन्तर की गहराइयों मे उतारते हुए उसने कहा—"आप कितने अच्छे है, संगीत जी! एक अपरिचित देहाती छोकरे के लिए इस पाले मे मारे-मारे फिरते है! मुझे श्यामा ने बताया कि आप मधवार साहब के पास भी गये थे।"

यदि वह निमिष जरा तूल खीचता तो न जाने क्या हो जाता! निश्चय ही मै उस नन्ही सी बाला को दोनों बाहों मे भरकर उठा लेता। पर पूरे संयम से उन बड़ी-बड़ी आँखों के जादू से अपने आपको तोड़ते हुए मैंने उस क्षणिक उद्वेग पर अधिकार पा लिया, यद्यपि इस प्रयास मे नख से शिख तक मै हिल गया। "मै बड़ा आभारी हूँ!" एकदम सूखे कण्ठ से मैंने बड़े धीमे से कहा और दोनों हाथ माथे पर ले जाते हुए लम्बे डग भरता हुआ मै चल दिया।

सामने हरमोहन सिंह के कमरे की खिड़की से तीरथराम खड़ा हमारी ओर देख रहा था। मेरी आँखों के उठते ही वह खिड़की से हट गया। अब मालूम हुआ कि वाणी पगडंडी से हटकर कोठी की दीवार से क्यों लगी खड़ी थी।

रात काफ़ी बीत गयी थी। सोने का निष्फल प्रयास कर मैं बाहर बरामदे मे चला आया।

आसमान एकदम साफ़ हो गया था और तारे टिमटिमा रहे थे, लेकिन धरती और आकाश के बीच चारों ओर धुंध छायी हुई थी। पूरब की ओर अम्बर मे चाँद की तीन चौथाई टिकिया दो प्रभा-मडलों के मध्य चमक रही थी। एक मडल किंचित गुलाबी और दूसरा नीला-नीला श्वेत और उसके बाद मटियाली-धुंध! दूर कुएँ का वट-वृक्ष उसी धंध मे लिपटा हुआ था और खिड़की के पास का बबूल ठिठुरा खड़ा था और चाँद की किरणे धुंध को चीर कर धरती पर बिखरे जल को चमका रही थी।

मैं चुपचाप बरामदे मे घूमने लगा और मेरे दिमाग मे बार-बार घूमने लगी वही बाते, वही दृश्य, वही वहम, सफेद गर्दन पर उभरे लोम-रंध्र और पीला-श्वेत मुख!

मैं सोचता था कि पहले कभी मेरे मन मे गरीबों के प्रति उस तरह सहानुभूति का सागर क्यों नही उमड़ा? गाँवों को मैं न जानता सही; पर मेरे कस्बे मे गरीबी की कमी न थी। मेरे अपने मुहल्ले मे उतने गरीब लोग न सही, पर काफ़ी गरीब लोग थे और उन्हे बड़ी मुसीबतों मे फॅसे मैंने देखा था। तब क्यों अचानक नबी और उसकी माँ को उस तरह पानी मे भीगते देखकर मैं एकदम द्रवित हो उठा?

पर शायद मैं पहले देखकर भी न देखता था। अपने सुख मे मस्त, मेरी ऑखों को अपने इर्द-गिर्द सिवा अपने कुछ भी दिखायी न देता था। पर पित्तो की मौत ने, फिर कभी उस तरह न भरने वाले उस अभाव ने, अचानक मुझे वे ऑखे दे दी थी, जो दूसरों का दुःख भी

देख सके...... कैसी अजीब बात है कि आँखें रहते भी मनुष्य बहुत कुछ नहीं देखता—लोग मरते हैं, भूख में बिलखते हैं, बीमारी से तड़पते हैं, कमर तोड़ देने वाले संघर्ष में रत रहते हैं, पर आँखें रखते हुए भी हमें वह सब दिखायी नहीं देता। फिर अचानक कोई व्यक्तिगत दुःख या अभाव हमारी आँखों पर छाया हुआ पर्दा उठा देता है और गरीबी, भूख और मौत को रोमानी दृष्टि से देखने वाली हमारी आँखें रोमानी दृश्यों के पीछे छिपे दुःख को भी देखने लगती हैं.....

......या शायद वह देवनगर की फिजा या देवा जी के लेखों को पढ़ने या उनके प्रवचन सुनने का असर था कि मैं वह सब देखने लगा था जो पहले न देखता था, वह सब सोचने लगा जो पहले कभी न सोचता था।.......देवा जी ने कहा था, बड़े सपने देखने के लिए बड़ी आँखें चाहिएं। तो क्या मुझे वे बड़ी आँखें मिल गयी थीं कि मैं देश की गरीबी को दूर करके, उसकी अशिक्षा को मिटाने, गुलामी से नजात दिलाकर उसे समृद्ध और खुशहाल देखने के सपने लेने लगा था और वह घोर गरीबी मुझे खलने लगी थी?.......

......या यह सधवार साहब के पास बैठने का फल था—सत्य के उस अन्वेषी की संगति का—कि मैं देवनगर और उसकी सरगर्मियों का आलोचक बन गया था। मैं (जिसने कभी इन बातों की ओर ध्यान भी न दिया था, काँग्रेसी नेताओं के बीच रहकर भी जो देश की समस्याओं के बारे में कभी न सोचता था) अब अचानक उन सबके बारे में जागरूक हो उठा था, सत्य का अन्वेषी बन बैठा था......

......या यह वाणी की उन बड़ी-बड़ी आँखों का—उन गहरी भोली आँखों का—प्रताप था, जो सदा कुछ अजीब-सी श्रद्धा

और स्नेह से मुझे देखती थी? क्या उन भोली-भाली, ठहरी-निथरी झील-सी खामोश, लेकिन इसपर भी शत-शत वाणियों से मुखर उन बडी प्यारी आँखों ने मेरी चेतना की मूर्छना को दूर कर, सजग कर दिया था? क्या उन आँखों में उठ जाने की आकांक्षा ही मेरे उपचेतन में अनजाने ही न समा गयी थी? ......

हर प्रेम के तल में कहीं जरूर वासना की हलकी धारा होती है, लेकिन ऐसा प्रेम भी है जो गिराता नहीं उठाता है, जो मन को वे आँखे दे देता है जो अनजाने भेद जान लेती है और शरीर को वह शक्ति प्रदान करता है कि आदमी हँसते-हँसते अनजानी मुसीबतों से जूझ जाता है।.......क्या वाणी का प्रेम ही मुझे ऊपर न उठा रहा था?

... ..बेलि पेड का सहारा पाने, उससे लिपट जाने को विवश है, उसकी उस बेबसी से पेड अपनी महत्ता पर गर्व कर सकता है, पर उससे लिपट कर वह असहाय विवश बेलि—उसे कितनी स्निग्धता, कितनी पूर्णता प्रदान कर देती है, यह बात तो कुछ-कुछ वह ठूँठ ही जानता है, जिससे लिपटी बेलि को निर्दय झंझावात ने उड़ा दिया हो.. ..और मेरे अस्तित्व को अपनी स्नेह-सिक्त, स्निग्ध, गर्म, श्रद्धा से आच्छन्न करता हुआ-सा उन बड़ी-बड़ी आँखों का परस उस बरामदे के नीम-अँधेरे में निरन्तर मुझे छूने लगा।

तभी रामा थापा ने बारह का गजर बजाया। घडियाल की टन-टन....टन-टन....सर्दियों की रात के उस ठिठुरे, सिकुड़े स्तब्ध सन्नाटे को झकझोरती हुई चारों-दिशाओं को गुँजा गयी।

पर धुध घनी होकर प्रभा-मण्डल के उस गुलाबीपन को निगल गयी और ठूँठ-सा चाँद आकाश में मुटर-मुटर तकने लगा।...लम्बी

साँस खीचकर मै अन्दर चला गया और लिहाफ पर एक और कम्बल डालकर लेट गया।

वाणी ने अपनी बात पूरी कर दी। दो दिन बाद जब मै खाना खाने जा रहा था तो देवा जी ने रास्ते मे रोककर मुझे बताया कि उन्होंने नबी की सिफारिश स्कूल के सेक्रेटरी सबवार साहब और मैट्रन महोदया (उन्होंने मुस्कराते हुए माता जी की ओर देखा) से कर दी है। नबी का सारा दिन वहाँ रहना जरूरी नही। अँग्रेजी, उर्दू, भूगोल, इतिहास ओर गणित के पीरियड वह पढ लिया करेगा। भूगोल और इतिहास एक दिन छोडकर बारी-बारी से आते है, इसलिए चार ही पीरियड उसे पढ़ने होंगे। दो कमीजों और दो निकरों से काम चल जायगा। जब वह कुछ पढ जायगा तो उसे कोई दस्तकारी सिखा दी जायगी। "बाकी समय आप उससे काम लीजिए," उन्हों ने कहा, "ताकि उसे अहसास हो कि वह किसी की दया से नही अपनी मेहनत से पढ रहा है। चार पीरियड दो घटों के होते है। दिन मे दो घटे भी पढ लेगा तो काफी होगा।"

मैने अपना आभार प्रकट किया और पहली बार सच्चे दिल से माता जी को हाथ जोड़कर 'नमस्कार' करते हुए कृतज्ञता प्रकट की।

वाणी मेरे वाली पाँत मे खाने को बैठी। वह उस दिन बड़ी खुश थी। सहेलियों के साथ बडी सरगर्मी से बाते करती, हँसती-हँसाती खाना खाती और परसने वालियों से मजाक करती रही। इस बीच उसकी निगाहों का वह स्नेहभरी श्रद्धा से भीगा स्पर्श निरन्तर मुझे छूता रहा।

जब मैं थाली लेकर नल पर पहुँचा तो वह भी आ गयी। मैं हमाम के नीचे हाथ धोने लगा, पर उसके लिए जगह छोड़कर एक ओर हो गया।

"थैंक्यू!"

वह हाथ धो रही थी जब मैंने धीरे से कहा—

"नबी के लिए तुमने जो किया है उसके लिए मैं बड़ा आभारी हूँ।"

वह रूमाल से हाथ पोंछ रही थी और उसका वह सफेद-सफेद मुख एकदम लाल-लाल हो रहा था।

———

नबी के आने के बाद का महीना-डेढ़ महीना मेरे जीवन की कभी न भूलने वाली स्मृतियों में से है। डाइनिंग हाल की मेजों पर बैठे-बैठे वाणी में और मुझमें दृष्टियों का विनिमय चाहे कितना भी क्यों न होता हो और देवनगर की रविशों पर एक दूसरे के पास से गुजरते समय सकोचभरी निगाहे एक-दूसरे को क्यो न देख लेती हों, पर बात-चीत हममें कम ही होती थी। लेकिन नबी जैसे वाणी को मेरे निकट लाने का एक सहारा बन गया और उस बारीक से तार को थामे वाणी मेरी ओर खिचती चली आयी। उसके उस स्नेह ने, जो बातों की अपेक्षा उसकी बडी-बडी आँखों मे झलकता था, अप्रत्यक्ष रूप से

अपनी आँच से, मेरे हृदय के जमाव को धीरे-धीरे गर्माकर पिघला दिया।

शिशिर की उन धुँधियाली, अँधेरी शामों में—जब सैर करना मुश्किल था—मैं खाने से पहले और खाने के बाद का अधिक समय नन्दलाल के यहाँ ही बिताता था। सावित्री को पढ़ाना; उसके बच्चों से खेलना; नन्दलाल से देवनगर की राजनीति की बातें सुनना। और कुछ न होता तो चुपचाप उनके बड़े कमरे में बैठा रहता। किसी भरे-पूरे परिवार का खाली कमरा भी कितना भरा-पूरा रह सकता है और किसी की उपस्थिति के बिना भी मेरे जैसे किसी एकाकी को कितनी तसल्ली दे सकता है? इसका भी आभास मैंने पहले-पहल वहीं पाया।

वाणी पहले कभी वहाँ न आयी थी, पर नबी के स्कूल में दाखिल होने के दूसरे दिन ही वह घूमती-घामती अपनी छोटी बहन के साथ वहाँ आयी और सावित्री आंटी और नन्दलाल अंकल से दो-चार मजाक करने के बाद चलते समय, जैसे अचानक याद आने पर, उसने नबी की बात चलायी कि वह दाखिल हो गया है, कि एक पीरियड खाली होने पर उसने स्वयं उसे पढ़ाया है और वह आगे भी ऐसा ही करेगी और जहाँ तक नबी की शिक्षा का सम्बन्ध है, मैं जरा भी चिन्ता न करूँ!

उस दिन के बाद वाणी प्रायः रोज ही कुछ-न-कुछ मिनटों के लिए वहाँ आने लगी। सावित्री या नन्दलाल से बातें करते-करते या बच्चों से खेलते-खेलते वह यों ही मुझसे बातें करने लगती......

"आपने देखा, नबी कैसा पढ़ रहा है?" वह पूछती....और बात शुरू हो जाती।

......या कहती—"आज नबी ने घर के लिए दिया हुआ काम नही किया, क्या आपके यहाँ काम ज्यादा था, या उसने ध्यान नही दिया?"....और बात शुरू हो जाती।

......या घोषणा करती—"नबी की लिखावट तो बड़ी सुन्दर है सगीत जी! ऐसी तो मेरी अपनी भी नही। मास्टर जी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे।"....और बात शुरू हो जाती।

नन्दलाल के घर की उन सक्षिप्त उड़ती-उड़ती मुलाकातों की याद आती है तो सोचता हूँ कि उनमे क्या था जो उनको इतना मधुर बना देता था! वाणी ज्यादा देर न रुकती। दो-चार बातें करके उसे जाने की जल्दी हो जाती। इस जल्दी मे जो बाते होती, उनमे न प्यार होता, न मुहब्बत. ..नबी कैसे आया?....कैसे मेरे मन मे उसे पढ़ाने की बात पैदा हुई....अच्छा ही किया जो मैने उसे पढ़ाने की सोची....गाँव मे एक भी लड़का पढ जाय तो वह गाँव की किस्मत पलट सकता है....आदि आदि....लेकिन यही बाते दिल की धड़कन को कुछ तेज कर देती और वह चली जाती तो कटुता के साथ-साथ ढेर सी मिठास छोड़ जाती।

कटुता का कारण यह न था कि वह आती तो कुछ ही देर बाद चली जाती, बल्कि यह कि वह आती तो कुछ ही देर बाद तीरथराम या हरमोहन, "कहिए सावित्री जी, कुछ चाय-वाय हमे भी पिलाइए?" या "अच्छा सावित्री जी, अकेले-अकेले?" कहते हुए आ जाते। वाणी डरी हुई हिरनी-सी चौक पड़ती और फिर उसके मुख पर क्रोध और खेद का बादल-सा छा जाता और वह 'सावित्री आटी' को नमस्कार कर या बच्चों के गाल पर चुटकी लेती या उन्हे चूमती हुई भाग जाती।

वाणी तो शायद तीरथराम और हरमोहनसिंह के बावजूद आती, पर मैंने वह सिलसिला तोड़ दिया।

हुआ यह कि एक दिन सावित्री ने कहा—"भरा जी, आजकल वाणी बहुत आने लगी है यहाँ।" और उसने मेरी ओर बड़ी भेद-भरी, शोख और मुस्कराती हुई आँखों से देखा, पर मैं एकदम भावना हीन बना बैठा रहा। ओठ तो दूर, मैंने आँखों तक में मुस्कान की छाया नहीं आने दी। फिर सावित्री ने स्वयं कहा—"और वाणी आती है तो तीरथराम या हरमोहन भरा जी भी जरूर आते हैं।"

मैंने इसका भी उत्तर नहीं दिया। सिर्फ यह किया कि शाम को नन्दलाल के यहाँ जाना बन्द कर दिया।

दो-चार दिन यों ही डोलता रहा। इस बीच में ज्ञानी दिलावर-सिंह से मैंने आसाम के उनके फार्म की कहानियाँ सुनीं; खोसला-साहब से सिद्ध-मकरध्वज, मृगांक रस, लाक्षादि और भृंगराज तैल के गुणों का श्रवण किया, मथवार साहब से राजनीतिक और सामा-जिक गुत्थियों का समाधान पाया, लेकिन कहीं भी मेरा मन नहीं टिका। उस तरह मैं कहीं न जा पाया जैसे नन्दलाल के यहाँ जाता था। मथवार साहब के यहाँ बौद्धिक भूख बहुत हद तक मिट जाती, उनकी बातें मन पर असर भी खूब करतीं, उनके प्रति मन में श्रद्धा भी ढेरों उपजती, पर जाने क्यों उनके यहाँ कुछ ऐसा रूखा-रूखा वातावरण मिलता कि मन आसूदा न होता।* तब भी मेरा अधिक समय वहीं कटता।

---

* मन न भरता, संतुष्ट न होता।

लेकिन तभी वह टूटा तार वाणी ने फिर जोड़ लिया. . . . .

खाना खाने के बाद एक शाम मैंने देखा कि जहाँ मैं खाना खाने बैठा करता था, वहीं पेंटरी पर वह रेडियो आ गया है जो देवा जी के कमरे में रखा रहता था। पेंटरी पर आगे सब्जी-तरकारी के डोंगे, रोटियों की चंगेर, थालियाँ, कटोरियाँ, चम्मच आदि पड़े रहते थे। इसलिए रेडियो पिछली मेजों के निकट रखा गया था। अभी मैं खाना खा ही रहा था कि वाणी खाने-वाने से निबट, थाली-वाली हमाम पर रख, हाथ-मुँह धोकर आ गयी। उसने रेडियो लगा दिया और दूसरे ही क्षण महफिल के सुरीले कंठ से निकला वही गान रात के सन्नाटे में गूँजने लगा।—

सुनो सुनो हे कृषण काला।
आयी तेरे द्वार
सुनो मेरी पुकार
सुनो सुनो हे बाँसुरी वाला।

हाथ का कौर हाथ में ही रह गया। थाली वहीं सामने रख, धड़कते दिल से साथ मैं वह गाना सुनता रहा। कब बाहर बूँदियाँ रिमझिमा उठीं, इसका भी पता नहीं चला। जब रिकार्ड खत्म हुआ तो बाहर जोर से पानी बरस रहा था।

गाना खत्म होते ही दूसरा रिकार्ड बजने लगा। शमशाद बेगम ढोलक पर पंजाबी का गीत गा रही थीं।

तभी वाणी मेरे पासवाली कुर्सी पर आ बैठी। "अब रेडियो यहीं रहा करेगा," उसने कहा, "आज 'लिसनर' में मैंने देखा कि आपके

प्रिय गाने का रिकार्ड बज रहा है, दार जी फ़ैसला कर चुके थे इसलिए रेडियो तो डाइनिंग हाल में आता ही, मैंने सोचा, क्यों न समय से आपको सुनवा दिया जाय?"

चुप रहना चाहता था, पर मुँह से निकल गया—"बड़ा ही आभारी हूँ!"

लेकिन दूसरे दिन से रेडियो वहाँ से उठ गया।

हुआ यह कि वर्षा के कारण वाणी वहीं बैठी रही। जिनके पास छाते और टार्च थे, वे तो चले गये, पर जिनके पास ये दोनों साधन नहीं थे, वे वहीं बैठे रेडियो सुनते रहे। घंटे-पौन घंटे बाद जब हरमोहन छाते और बरसातियाँ लिये हुए तीरथराम के साथ आया तो वाणी को मेरी मेज पर बैठे देखकर लाल-भभूका हो गया। "चलो, देर हो रही है, माता जी चिन्ता कर रही हैं," उसने कहा।

और वाणी चली गयी।......दूसरे दिन सुबह ही रेडियो खाने के कमरे के बदले ड्योढ़ी में था।

शिशिर के उन दिनों में, जब सूरज पाँच-साढ़े-पाँच बजे छिप जाता और छः बजे अँधेरा छा जाता, देवसैनिक साँझ प्रायः अपने घरों ही में गुज़ारते।.....देवा जी उन दिनों ठीक चार बजे लिखना बन्द कर देते। चाय पीने के बाद एक-डेढ़ घंटा सैर करते। सैर के समय उनके साथ बाहर से देवनगर देखने को आये हुए मेहमान या दूसरे दो-चार चापलूस रहते। देवा जी को अपनी आवाज़ बड़ी प्यारी लगती थी। वे सैर को जाते तो उनके सिवा कोई न बोलता। अपने बचपन के, या स्कूल-कालेज के दिनों के, या जहाज़ की यात्रा के, या विलायत के किस्से वे नित्य सुनाया करते। शुरू-शुरू में मैं भी

उनके साथ हुआ करता था और मैंने देखा था — कई बार वे भूल जाते थे कि वह किस्सा वे दो दिन पहले ही सुना चुके हैं और सुनने वाले भी लगभग वे ही पुराने लोग हैं।

उनके किस्से प्रेम के अधिकार के बारे में होते और उनका आग्रह रहता था कि अधिकार शरीर का नहीं मन का होना चाहिए। सफाई के बारे में होते जो उनके विचार में सभ्यता की पहली शर्त थी। सच्चे धर्म, सच्ची मानवता, सहिष्णुता, स्वाभिमान, न्याय, सत्य, अहिंसा और दैनिक जीवन में आदमी को आगे बढाने वाले गुणों के बारे में होते। इन्हीं सब के सम्बन्ध में दृष्टान्त-स्वरूप वे किस्से सुनाया करते। उनका सुनाने का ढग ऐसा रहता कि उनके भक्त सदा किस्से के नायक से देवा जी का सम्बन्ध जोड लेते। एक बार मैं उनसे लेख लेने गुम्बद में गया। वे दफ्तर में नहीं थे। कोई बड़ा अफसर आया हुआ था, जिसे वे देवनगर दिखाने ले गये थे। उनकी मेज पर एक अमरीकी पत्रिका खुली पड़ी थी। समय काटने के लिए उसे पढने लगा। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, जब मैंने वही किस्सा उसमे पढा जो उन्होंने दो दिन पहले अपने नाम से सुनाया था और जिसे उनके भक्तों ने सुनकर शेष लोगों में चालू कर दिया था। दूसरे ही दिन से मैंने उनके साथ शाम की सैर को जाना बन्द कर दिया।

सैर से आकर देवा जी कुछ देर आराम करते। इतने में खाने की घटी बज जाती। खाना खाने के बाद वे बिस्तर पर लेटे-लेटे कुछ पढते या अगर कुछ चापलूस आ इकट्ठे होते तो उनसे बातें करते। बातें करने का मतलब यह कि उन्हें अपने जीवन के किस्से सुनाते। जब तक रेडियो उनके कमरे में था, वे कभी-कभार कोई टॉक सुन लेते, लेकिन ड्योढी में वे कभी नहीं गये।

......मधवार साहब शाम को अपनी बेटी को पढ़ाते थे या हरमोहनसिंह और देवा जी के चापलूसों की हरकतों से तंग आये मुलाजिमों अथवा देवसैनिकों की शिकायतें सुनते और सत्य पर अड़े रहने, नैतिक बल पैदा करने, मीठे-मधुर शब्दों में लिपटे हुए झूठ को पहचानने, खुशामद करके पेट भरने के बदले स्वाभिमान से भूखे रहने और ऐसे ही विषयों पर प्रवचन देते। देवा जी अपनी प्रेरणा यदि अंग्रेजी और अमरीकी मानववादी पत्र-पत्रिकाओं से लेते और वहीं से उद्धरण देते तो मधवार साहब गीता, उपनिषदों और महात्मा गांधी की जीवनी से दृष्टान्त पेश करते। सुनने वालों में से कुछ दूसरे ही क्षण जाकर हरमोहन के कान भर देते और इस सेवा के बदले कोई छोटी-मोटी सुविधा प्राप्त कर लेते और कुछ उस मुलाकात के बाद घंटों जाकर सुलगते रहते।

इन दूसरी तरह के लोगों का तमाशा उस समय देखने को मिलता जब कोई बाहर से देवनगर देखने आता और दिखाने का काम उनके जिम्मे पड़ता। वे देवनगर की व्यवस्था, उसके बाह्य सौन्दर्य और कलाकारिता के अन्दर छिपी अपरूपता और अनगढ़ता की भरपूर निन्दा करते। सरगोशियों में—केवल सुनने वालों की हित-चिन्ता और लाभ के खयाल से—उन्हें समझाते कि यह सब धोखा है, फरेब है, अपने संकुचित वातावरण से तंग आये हुए आदर्शप्रिय भोले-भाले लोगों को ठगने का साधन-मात्र है.... पर यदि ऐसे समय में कहीं देवा जी, हरमोहन या उनका कोई चापलूस सैनिक निकट से गुज़रता या इतने पास होता कि उनकी बातें सुन सके तो वे तत्काल किंचित ऊँचे स्वर में देवा जी की सूझ-बूझ और उनके आदर्शों की प्रशंसा शुरू कर देते.... "चौदह सौ रुपये," वे कहते, "चौदह सौ

रुपये में तो शहर में एक कमरा तक नहीं बनता, लेकिन देवा जी ने ये दसों कोठियाँ चौदह-चौदह सौ रुपयों में बनवा दी हैं, अभी ऐसी सौ कोठियाँ बनवाने का उनका इरादा है और वे चाहते हैं कि अपने समाज की संकीर्णता से तंग आये हुए मध्यवर्गीय यहाँ खुले वातावरण में आकर रहें और नये समाज की नींव रखें . . . . .'' और जब सुनने वाले दूर निकल जाते तो वे स्वर को धीमा कर के फिर कहते, "ये ही धोखे की टट्टियाँ हैं, जिनके पीछे से देवा जी शिकार खेलते हैं। यहाँ एक फसील थी, उसकी ईंटों से ये कोठियाँ बनी हैं। दीवारों के बाहर एक ईंट पक्की है, अन्दर से सब कच्ची हैं। लीप-पोतकर सुन्दर बना दी गयी हैं। दो-तीन बरसात बाद मिट्टी नमक बनकर झड़ जायगी और यदि कोई गृह-स्वामी घर में न रहा और दो बरस बाद आया तो कोठी की जगह उसे मिट्टी का तोदा* मिलेगा। इस वीराने में कौन रहेगा, क्या खायगा, क्या काम करेगा . . . आप अभी जमीन न लीजिए, जमीन खरीदी तो आप फँसे, इसे कुछ बसने दीजिए . . हम आपकी ही तरह यहाँ बड़े-बड़े सपने लेकर आये थे। सब मिट गये। हमारी तरह और भाई यहाँ न फँसें, इसलिए हम यहाँ बने हुए हैं . . . . . .''

. . . . . सधवार साहिब के साथ पालसिंह आर्टिस्ट रहते थे। स्कूल की लड़कियों को वे अपने चित्रागार में ही पढ़ाते थे। देवनगर की राजनीति से उन्हें कोई सरोकार न था। 'काहू के लेने में, न काहू के देने में।' उनकी पत्नी और सुदर्शनसिंह स्वीप की बाजियाँ लगाते,

* ढूह

बच्चे कैरम खेलते और चित्रकार महोदय किसी काल्पनिक परी को तूलिका से कैन्वस पर उतारा करते।

......उनके बराबर की कोठी में इस जगह के भूतपूर्व स्वामी और जागीरदार (अब केवल एक देवसैनिक) पंडित हजारीलाल——मिश्र रहते थे। देवा जी पहले-पहल उनसे मिलने आये थे तो उन्होंने बड़े प्यारे-मीठे ढंग से मिश्र जी को विश्वास दिलाया था कि यह जमीन एक महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए चाहिए। जमीन का इससे अधिक अच्छा उपयोग हो नहीं सकता और स्वयं मिश्र जी को इस महान कार्य में देवा जी के साथ रहना चाहिए। वे इस बात की व्यवस्था कर देंगे कि पंडित हजारीलाल मिश्र और उनके बच्चे देवसेना के आजीवन सदस्य बने रहें——मिश्र जी उस समय पिये हुए थे। अपने वंश की दरियादिली का बखान करते हुए उन्होंने बड़े सस्ते में ज़मीन देवा जी को दे दी और लालपरी की संगति में उनका और भी ज़्यादा वक्त गुजरने लगा। दिन में वे कुछ देर के लिए नाम को दफ़्तर में बैठते, कुछ काम-वाम भी देखते, पर शाम को घर में बोतल खोलकर बैठ जाते। अधिक पी लेते तो जोर से चिल्लाते कि उन्हें लूट लिया गया है, देवनगरियों ने उनकी सोने-सी धरती कौडियों के मोल उनसे छीन ली है और गालियाँ बकते। जब उनका नशा उतर जाता तो हरमोहन उन्हें डाँटता कि देवा जी उन्हें दया करके रखे हुए हैं, नहीं क़ानून के अनुसार उनका कोई हक़ नहीं, वे यों बकेंगे तो मंडल उन्हें निकाल देगा। तब वे अगले दो-चार दिन शाम को वहाँ पीने के बदले पत्थरचट्टी और गोरेशाह चले जाते और कभी एक की और कभी दूसरे की नालियों में, नशे में धुत्त, बेहोश पड़े मिलते।

. . . . . रहे ज्ञानी दिलावरसिंह, खोसला साहब और हरमोहन इत्यादि, तो सेक्रेटरी होने के नाते (उन्होंने फिर अपना पुराना पद पा लिया था) ज्ञानी जी या तो देवा जी की चापलूसी मे लगे रहते या फिर अपनी कोठी मे बैठे, अपने गुरु के पद-चिह्नों पर चलते हुए बिल्कुल उन्ही की तरह प्रेस के मुलाजिमों, ठेकेदारो और दूसरे नौकर-पेशा भक्तों के सामने अपने किस्से सुनाते और प्रवचन देते, और कभी जब वे हँसते तो अपने इर्द-गिर्द बैठने वालों की बगलों में हाथ देकर ट्यूब-वेल से भभको से निकलने वाले जल की तरह ठहाके लगाते। इन ठहाकों के मध्य विराम-स्वरूप ऐसे झटके देते कि भक्तों को अपनी बाहे स्कंध-मूलों से उखड़ती दिखायी देती। खोसला साहब आयुर्वेद का उद्धार करने, मुफ्त दवा बाँटने और आयुर्वेद की महिमा से अज्ञ देवनगरियों को विज्ञ बनाने के शुभ काम मे निरत रहते और हरमोहन और उनके साथी एक दूसरे के घर चाय उड़ाते, रमी और ह्विस्ट-ड्राइवों की व्यवस्था करते और मौज मनाते।

शिशिर की उन शामों मे ड्योढी और भी सर्द हो जाती। पूरब-पच्छिम बडे-बड़े महराबदार दरवाजे, उत्तर-दक्खिन खिड़कियाँ और सीमेंट का फर्श, हवा बेरोक-टोक आती और फर्श यख हो जाता। उस सख्त सर्दी मे अपने आरामदेह कमरों को छोड़कर ड्योढी मे रेडियो सुनना देवनगरियों के बस की बात न थी। कभी कोई प्रेस का मुलाजिम जिल्द या प्रकाशन-विभाग का कोई कर्मचारी, बस का ड्राइवर या क्लीनर और इसी तरह का कोई व्यक्ति रेडियो सुनने या लाइब्रेरी मे (ड्योढ़ी मे एक ओर को बडी मेज पर कुछ समाचार पत्र और देववाणी के ताजा अंक पड़े रहते और वह मेज लायब्रेरी कहाती थी।) कोई पत्र-पत्रिका पढने आ जाता।

दूसरी शाम जब मैं खाना खाकर लगर से बाहर निकला तो सोचने लगा कि किधर जाऊँ। आकाश पर बादल घिरे थे, अँधेरे मे सैर करना कठिन था। नन्दलाल के घर जाने को मन था, पर वह सप्ताह भर की छुट्टी लेकर बीवी-बच्चों समेत बाहर गया हुआ था और खाना खाते ही जाकर लेट रहने या लिखने-पढ़ने को मेरा मन न हो रहा था। इसी असमजस मे खड़ा था कि वाणी ने आकर अपनी दो सहेलियों से मेरा परिचय कराया। ड्योढी की ओर चलते-चलते उसने बताया कि उनके माता-पिता ने देवनगर मे जमीन खरीदी है, बडी कोठियाँ बनायेंगे और वे अभी कुछ दिन को आयी है, जब उद्घाटन के बाद स्कूल बाकायदा चलने लगेगा तो नये सेशन से वे पढने लगेगी। उसने मेरा परिचय भी दिया। मेरे कण्ठ और मेरे स्वभाव की बडी प्रशसा की और जब ड्योढी के निकट पहुँचकर मैं अपनी कोठी की ओर मुड़ने लगा तो उसने बडे अरमान भरे स्वर मे कहा, "ड्योढी मे न बैठिएगा सगीत जी कुछ मिनट के लिए!"

"नही मै चलूँगा।"

"आइए न, पाँच-सात मिनट बाद चले जाइएगा!" और उसने मेरा हाथ जरा सा खीचा।

पहली बार उसकी नर्म-नर्म, ठडी, यख़ अगुलियाँ रात के उस अँधेरे मे मेरे हाथ से छुई। उस ठडे परस मे न जाने कौन सी शक्ति थी कि एक मीठी-सी गर्म सिहरन मेरी नसो मे दौड़ गयी। चाहने पर भी मै आगे न जा सका।

हम ड्योढी मे एक बैच पर बैठ गये। वाणी ने आगे बढ़कर रेडियो लगा दिया। कोई महाशय अटक-अटक कर तकरीर कर रहे थे। सामने लिखा शायद साफ़ न था, या उनकी पहली-पहली तक़रीर

थी, गला उनका सूखा जा रहा था, चार सतरें पढ़ने पर हकला जाते थे—वाणी ने स्विच घुमा दिया। रेडियो बन्द हो गया। वह मेरे निकट आ बैठी।

कुछ क्षण सन्नाटा-सा छाया रहा। बाहर ड्योढ़ी के दरवाजे के सामने से कोई छाया गुजर गयी।

तब बड़े सकोच से—इस प्रयास मे उसका मुख तक सफेद हो गया—वाणी ने कहा कि उसकी सहेलियो की बड़ी इच्छा है कि मै एक. . . .

मै न जाने दरवाजे के बाहर उस छाया के गुजर जाने के कारण, या वाणी के यों मुझे बरबस वहाँ ले जाने के कारण, या न जाने किस कारण खीज उठा था। उसने बात खतम भी न की थी कि मै बोल उठा, "मेरी तबीयत ठीक नही!"

वाणी का मुह और भी उतर गया। वह कुछ बोली नही। उसने अपनी उन्ही बड़ी-बड़ी उदास आंखों से मेरी ओर देखा, जैसे कह रही हो, "मै आपको तग नही करना चाहती, पर यहाँ रुकने का मेरे पास कोई बहाना नही, आप क्रोध न कीजिए, मै चली जाती हूँ।" और दोनों हाथ माथे की ओर ले जाते हुए वह चलने लगी।

तब न जाने मन कैसा हो आया। मैने हाथ बढ़ाकर उसे रोक लिया। "आप नाराज हो गयी, मेरी तबीयत सचमुच ठीक नही।"

निमिष भर को वे बड़ी-बड़ी पनियारी* आँखे मेरी ओर उठी। गैस की रोशनी मे उनमे छलछलाये आंसू चमक उठे। दूसरे क्षण

---

* पनीली। सजल

उन्हें दूसरी ओर हटाते हुए उसने कहा, "अभी तो जा रही हूँ। आप आराम कीजिए ।"

मैंने बरबस उसे फिर बैठा दिया और उसके साथ ही उठ जाने वाली उसकी सहेलियों से क्षमा माँगते हुए मैंने कहा, "आप माफ कीजिएगा, मेरी तबीयत ठीक नहीं थी, आप बैठिए, मैं सुनाता हूँ ।"

और मैं गाने लगा। दरवाजे के बाहर किसी आकुल प्रेतात्मा की तरह वह छाया बराबर चक्कर लगाती रही । वाणी और उसकी सहेलियाँ और समाचार पढ़ते हुए दो-एक व्यक्ति एक-टक मेरी ओर देखते रहे और मैं गाता रहा ।

अपने कमरे के एकांत में जब मैं सोचता तो मुझे बड़ी खीझ होती कि मैं क्यों वाणी के सामने अशक्त हो जाता हूँ, उसकी ओर न देखने के मेरे सारे इरादे, उससे बात करने का अवसर न आने देने के मेरे सारे संकल्प क्यों हवा हो जाते हैं ? वह कोई अनिन्द्य सुन्दरी नहीं, मेरी पत्नी के मुक़ाबले में तो वह कहीं भी नहीं ठहरती, फिर क्यों वह मुझे आकर्षित करती है ? यदि मैं वाणी की ओर बिल्कुल देखना बन्द कर दूँ तो वह मेरी ओर कैसे देखेगी ? जब मैं उधर आँखें उठाऊँगा ही नहीं तो उसकी आँखें कैसी मेरी आँखों में चार होंगी । दो आँखें एक ओर देखती रहें तो अपने ही से तो चार न हो जायँगी । चार होने के लिए चार ही आँखों की जरूरत है । और मैंने फैसला कर लिया कि डाइनिंग हाल में उसकी ओर बिल्कुल न देखूँगा ।

......मैं न देखता । चुपचाप नीची निगाहें किये खाना खाता, लेकिन बहुत देर तक उधर न देखने से मैं समझ लेता कि अब वह मेरी

ओर नही देखती (या जिज्ञासा होती कि देखूँ वह देख रही है कि नही) और मैं मुड़ता और हमारी आँखे चार हो जाती।

......कभी मैं बिल्कुल उधर न देखता, दूसरी ओर को मुँह किये तना बैठा रहता, या किसी साथी से बाते करता, लेकिन लगता जैसे मेरी कनपटी मे बड़ी-बड़ी दो आँखे छेद करके दूसरी ओर निकल जायेंगी और मैं मुड़ता और मेरी आंखे उन आँखों मे चार हो जाती।

अपने कमरे के उस एकान्त मे मेरी पत्नी का चित्र मेरी आँखों के सामने घूम जाता और मै खीझ उठता कि क्यों यह जरा-सी दो बित्ते की बीमार-बीमार-सी लड़की बरमे सरीखे मेरी सोच तक मे छेद किये जा रही है। जब-तब मै उसके बारे मे सोचने लगता हूँ और मै फिर अनजाने अपनी स्वर्गीया पत्नी से उसकी तुलना करता और मुझे लगता कि मै झख मार रहा हूँ। शांति की खोज में देवनगर आकर अशांति मोल ले बैठा हूँ और मुझे देवनगर छोड़कर शहर चले जाना चाहिए। खुले वातावरण मे, सख्त किस्म के काम मे अपने-आपको लगा देना चाहिए, जिससे मै इतना थक जाऊँ कि रात को सोऊँ तो न पित्तो के बारे मे सोचूँ और न वाणी के बारे मे और पत्थर की तरह पड़ जाऊँ! .... एक दिन इसी तरह की उलझन मे मै देवा जी के पास फिर गया और बोला—"मै जाना चाहता हूँ!"

उन्होंने समझा, मै छुट्टी जाना चाहता हूँ, बोले—"कितने दिन के लिए, यहाँ पाँच अप्रैल को प्रैक्टिकल स्कूल का उद्घाटन होने वाला है, तब तक......"

"जी नही, मै जाना चाहता हूँ!"

देवा जी चुपचाप मेरी ओर देखते रहे।

"जी, मेरा दिल यहाँ नहीं लगता। मन भी अशांत रहता है। आप जानते हैं, मैं शांति की खोज ही में आया था।"

"दिल तो भाई लगाने से लगता है, और मन की शांति भी बाहर से नहीं मिलती," उन्होंने कहा, "शांति को अपने अन्दर खोजना पड़ता है। अपने आस-पास के जीवन को साफ, स्वच्छ, सम्पन्न और खुशहाल रख के हासिल करना होता है। दूसरों की खुशी-गमी में हिस्सा लेना सीखो, तुम्हारा मन लग जायगा।" और उन्होंने बताया कि देवनगर में बिजली न होने से सर्दियों की शामें बड़ी लम्बी हो जाती हैं, अँधेरा पाख तो और भी तकलीफदेह होता है। जहाँ सर्दियाँ गुजरीं, बहार आयी, दिन बड़े हुए कि मन आपसे-आप लग जायगा।

कुछ क्षण चुप रहकर उन्होंने कहा, "और कहीं मन न लगे तो हमारे यहाँ आ जाया करो। किताबें पढ़ो, बातें करो, वाणी को भी गाने का बड़ा शौक है, मधु भी सीख रही है, कुछ उन्हीं से सुनो-सुनाओ। वसन्त के बाद दो महीने भी देख लो। स्कूल का उद्घाटन भी हो जायगा। तब मन न लगे तो चले जाना। देवनगर से और शिकायतें चाहे हों, पर मन न लगने की शिकायत कभी किसी ने नहीं की।"

और मैं चला आया था और वाणी का मेरा सम्बन्ध पहले-जैसा चल रहा था। न बहुत दूर, न बहुत निकट। रास्ते में आते-जाते, रेडियो के पास बैठे, रविशों पर सैर करते, वाणी नबी की बात पूछ लेती। नबी कैसी प्रगति कर रहा है, यह बताने के बहाने वह क्षण भर रुक जाती और अपनी निगाहों को मेरे अन्तर में दूर तक उतार देती। बातें करते-करते उसका रंग उड़-उड़ जाता, डरी हुई हिरनी सी वह चौंक-चौंक जाती और ज्योंही उसे हरमोहन या तीरथराम दिखायी

देता वह चल देती और वह संक्षिप्त-सी निरर्थक मुलाक़ात अपने पीछे ढेर सी मिठास छोड़ जाती।

जब मैंने इस आकर्षण पर और भी विचार किया तो पाया कि इस आकर्षण की तह में तीन-चार बातें काम करती हैं—देवनगर के अनुपम सौन्दर्य के बावजूद उसकी वीरानी, मेरा अकेलापन और तीरथराम की ईर्ष्या। ......इस अन्तिम बात ने वास्तव में उस हलकी-सी जिज्ञासा को, जो मुझे तीरथराम की प्रेयसी को जानने के बारे में हुई थी, इस आकर्षण में बदल दिया था।

तीरथराम की ईर्ष्या दिनों-दिन बढ़ रही थी और हरमोहन का विरोध भी, शायद इसीलिए वाणी मेरी ओर अधिकाधिक खिंच रही थी। वह मुझे देखने के, मुझसे मिलने के, मुझसे (कितनी भी संक्षिप्त क्यों न हो) बात करने के बहाने ढूँढ लेती थी।

इसी बीच में एक और बात हुई, जिससे मेरा सन्देह विश्वास में बदल गया।

हुआ यों कि देवा जी ने मुझे एक दिन बुलाया और पूछा कि क्या मैं हिन्दी जानता हूँ?

"जी!" मैंने उत्तर दिया।

"मैं चाहता हूँ कि अपनी कहानियों का संग्रह हिन्दी में प्रकाशित करूँ।"

"जी!"

"आप जरा कुछ कहानियाँ करके दिखाइए, अच्छी हुई तो छाप देंगे।"

और मैं चला आया। लेकिन जब मैं हिन्दी में उन्हें करने लगा तो मुझे बड़ी कठिनाई पड़ी। मैं इलाहाबाद में पढ़ा था और हिन्दी मैंने सीखी भी थी, पर तब इलाहाबाद क्या और लखनऊ क्या—सब जगह उर्दू का जोर-शोर था—उर्दू मेरी अच्छी थी और हिन्दी उतनी अच्छी न थी। तब मैंने सोचा कि तीरथराम से क्यों न मदद ले लूँ। वह आर्यसमाज के स्कूल में पढ़ा था। हिन्दी में कविता करता था, संस्कृत भी उसने पढ़ी थी। यह ठीक है उसके और मेरे सम्बन्धों में कुछ खिंचाव था, पर यह काम मेरा तो था नहीं, देवा जी का था—और मैंने उससे मदद लेने का निश्चय कर लिया। लेकिन तीरथराम के पास जाने से पहले मैंने हरमोहन से मिलना जरूरी समझा। उससे कहा, "देवा जी ने मुझे कुछ कहानियाँ हिन्दी में करने को दी हैं, मैं कर रहा हूँ लेकिन कहीं-कहीं कठिनाई पड़ रही है। शब्द-कोश यहाँ है नहीं, आप जरा तीरथराम से कह दीजिए कि वह मेरी मदद कर दे!"

हरमोहन क्षण भर मेरी ओर देखता रहा, फिर उसने कहा—"आप उससे मेरा नाम लेकर कहिएगा, वह फौरन कर देगा।" फिर क्षणभर रुक कर उसने कहा—"मैं भी उससे कह देता हूँ।"

दोपहर के बाद मैं तीरथराम के यहाँ गया। मैंने उससे कहा कि जरा उसकी मदद की जरूरत है। हरमोहन का नाम लेकर मैंने उसे स्थिति समझा दी।

"कविता करना और है और अनुवाद करना और," तीरथराम

बोला—"हरमोहन मुझसे मिले थे, मैंने उनसे भी कह दिया था कि अनुवाद मेरे बस का नहीं।"

"आपको जरा भाषा ही देखनी है। अनुवाद तो मैंने कर लिया है।"

वह अडिग रहा।

मन-ही-मन बड़ा क्रोध कर मैं मुड़ने लगा था कि उसने कहा—"यदि वाणी कह दे तो मैं कर दूंगा, बल्कि आप चाहेंगे तो मैं सारी कहानी स्वयं कर दूंगा।"

"सारी कहानी करने की जरूरत नहीं, कहानी तो मैंने कर रखी है, आपको सिर्फ मेरे साथ देख भर लेनी है।"

"वाणी कहे तो . . ."

"पर वाणी से इसका क्या सम्बन्ध ?"

"सम्बन्ध क्या होगा, पर वह कहे तो मैं कर दूंगा।"

"यह काम देवा जी का है।"

"पर मेरा नहीं ! मैं देवसैनिक हूं, नौकर नहीं। देवा जी कहेंगे तो मैं कह दूंगा, मुझे हिन्दी नहीं आती।"

और वह उद्दण्डता से हंसा।

क्रोध से लाल हो मैं धड़धड़ाता चला आया।

शाम को वाणी मिली तो मैंने उससे इस बात का ज़िक्र किया—"तीरथराम ने क्यों यह कहा? " मैं बोला, "यह मैं नहीं जानता, पर अच्छा काम हो जाय, इसकी मुझे चिन्ता है, यदि उचित समझो तो उससे कह देना।"

"तीरथराम गुण्डे हैं !" सहसा वाणी ने दाँत पीसते हुए ओठों में कहा।

वह गुण्डा कैसे है? यह बात मैं उससे न पूछ सका, क्योंकि वह तत्काल चली गयी। पर देवनगर के वातावरण में, शिष्ट पिता की छाया-तले पली उस लड़की के मुँह से एक देवसैनिक के प्रति क्यों गाली निकल गयी, तीरथराम में और उसमें क्या बात हुई है, इसपर मैं घण्टों सोचता रहा . . .शायद इसी कारण वह नन्ही-सी बीमार-बीमार, बड़ी-बड़ी आँखों वाली लड़की मेरी सोच में खुबती चली गयी।

जाड़े की वह तीखी लहर जैसे जोर के कुछ चक्कर खाकर निकल गयी। धरती ने शूल के उस रोगी-सी आराम की साँस ली, जिसकी पीड़ा लहरें खाकर धीरे-धीरे मन्द पड़ गयी हो। दिन बड़े होने लगे, किचन के सामने लगे अनार के सूखे पौधों में अंकुर आ गये थे। कार्तिक में बोयी गेहूँ बालियाँ ले आयी, सरसों की पीली चुनरी लहरा उठी। बरसात के अधिक दिन तक अटके रहने के कारण हवा में चाहे ठण्डक थी, पर शिशिर की वह घुटन, वह सीलन खत्म हो गयी थी। धरती जैसे अँगड़ाई लेकर जाग उठी थी और सुबहें और शामें अकथ उदासी के बदले एक नयी उमंग से मन-प्राण भरने लगी थीं। मैंने शाम को नन्दलाल के यहाँ जाना या ड्योढ़ी में बैठना छोड़ दिया और नहर पर, पश्चिम के ऊसर में योगी-से खड़े विराट बरगद के नीचे अथवा किसी निकटस्थ गाँव में जाने लगा।

देवनगर के उस प्रवास में, वहाँ की सुबह-शामों से मेरा घनिष्ट नाता रहा था। उस वीराने के एकाकी दिनों में सुबह-शाम की उन तन्वंगियों ने मेरा खूब साथ दिया और उनके अंग-प्रत्यंग के हर शृंगार और उनकी प्रत्येक भावभंगी से मैं परिचित हो गया था।

बड़ी-बड़ी आँखें

......आखिरी बरसात की वे सुबहें मेरे मानस पट पर अंकित हैं, जब बरस चुकने के बाद स्वप्न सी सुकुमार धुंध खेतों पर छायी होती और अरुणा संतरी रंग की साड़ी पहने प्राची के सिंहासन पर आ विराजती.....और शामें जो ऊसर की उन खजूरों के पीछे से सेंदूरी सुधा लुटाती तो नीले-नीले बादल जैसे सुधा-पान को लालायित कतार-दर-कतार आ खड़े होते। पर वे चिर-चंचल मदमानियाँ, उनके सिरों के ऊपर सुधा लुटाती हुई, दूर पूरब के श्यामों तक पहुँचा देती और सेंदूरी सुधा की उस वर्षा से सारे आकाश की नस-नस में जैसे नशे की लाली दौड़ जाती।

......शीतारम्भ के दिनों की मुझे याद है, जब आग की लपट ऐसी आभा लेकर सुबहें जगती तो उनकी द्युति पूरब के नीले बादलों तक को तपा देती और जब दिन ढलता तो सूर्यास्त से पहले क्षितिज के नीले बादलों में सफेदी छा जाती और उसमें अपनी किरमिजी आँखें फटफटाकर सूरज ओझल हो जाता। आकाश में जहाँ-जहाँ बादल होते, पहले किरमिजी, फिर संतरी, फिर पीला सा रंग काफी देर तक रहता। फिर जब सारा आकाश तिमिराछन्न हो जाता तब भी वह उजली-उजली सफेदी पश्चिम में बड़ी देर तक उस जगह छायी रहती, जहाँ सूरज ओझल हुआ था। लगता जैसे साँझ अब भी सूरज की बाट देख रही हो कि वह फिर आयेगा. ....फिर आयेगा ....और उस जगह से हटने का नाम न लेती हो।

......और गहरे शीत में जब संतरे और सेंदूर में स्वर्ण आ मिलता तो सुबह की तन्वी सोना लुटाती रहँट के बरगद के पीछे से उठती। रहँट के गिर्द बैलों के चलने से जो धूल उड़ती, वह एकदम सुनहरी भाप-सरीखी दिखती और बहते बरहों में जहाँ-जहाँ उसकी

किरणे पड़ती, पानी पिघला सोना दिखायी देता। और शाम को कभी जब पश्चिम का क्षितिज कुछ साफ होता और बादल बरगद पर छाये होते, उस समय डूबते सूरज की गहरी लाल रोशनी छन-छन कर वट के घने पत्तों मे आती और ऐसा लगता, जैसे पिघले हुए सोने का समुद्र ठाठें मारता हुआ, उस विराट बरगद तक आता है, पर उसे पार नही कर पाता।

प्रातः उठते ही मै सदा अपने बरामदे मे आ जाता और प्राची के सिहासन पर विराजने वाली अरुणा का स्वागत करता और दिन ढले नहर पर या ऊसर मे या बरगद के नीचे जाकर शाम को विदा कर आता। वाणी मेरी इस आदत को न जाने कब जान गयी थी, उन सुबह-शामों मे (अपनी बहन या सहेलियों या दिलजीत या मर्मी और पापा के साथ जाते हुए) उसकी एक-न-एक झलक मुझे अवश्य मिल जाती और शायद इसीलिए वे सुबहे-शामे और भी रगीन और मादक हो जाती।

लेकिन यह तो मै अब सोचता हूं। उस समय तो वह जितना मेरी ओर खिचती, मै उससे भागने की कोशिश करता। मै एक विधुर परदेशी और वह एक नन्ही कुमारी, जिसकी मॉ, जिसके भाई और दूसरे रिश्तेदार मेरे विरुद्ध ! उसमे और मुझमे कैसी ममता ? कैसा स्नेह ? मोह का वह जाल जितनी जल्दी टूट जाय उतना ही अच्छा। 'देवनगर में कोई स्वाभिमानी नही रह सकता,' मधवार साहब की इस बात से मै सहमत था और चाहे मै वहॉं रहता था, काम करता था, पर मैंने अपना मन वहाँ से उठा लिया था। मेरा मन वहॉ से समूचा उठ जाय, उसका कोई भाग वहॉ पड़ा न रह जाय, मै इसका ख़याल रखता था और इसलिए जब बहार की उन शामों मे मेने फिर सैर

के लिए जाना शुरू किया तो इस बात का खयाल रखा कि मैं जिस ओर एक दिन जाऊँ, उधर दूसरे दिन न जाऊँ, और यों वाणी से मिलन के अवसर कम-से-कम हो जायँ, उसका मोह भंग हो जाय और वह मेरा खयाल छोड़ दे।

कुछ दिन लगा कि शायद मैं सफल हो गया हूँ। अपने उस हठ पर खेद भी हुआ, उदासी भी हुई, पर मन को कुछ शांति भी मिली। बेचैनी के उस हल्के-से अहसास के बावजूद जो उन बड़ी-बड़ी आँखों को न पाने से हुआ, कहीं गहरे में यह भी लगा कि मैंने ठीक रास्ता अपनाया है। इस मोहजाल को तोड़े बिना कोई चारा नहीं।

लेकिन तब वाणी बच्चों को लेकर ड्योढ़ी की छत पर जाने और यह देखने लगी कि मैं किस ओर सैर को जाता हूँ। फिर साथ में टीचर को लेकर बच्चों को सैर कराने के बहाने वह भी उधर ही को चल पड़ती। वापसी पर जरूर ही मेरा उससे साक्षात्कार हो जाता। जहाँ मैं मिलता, प्रायः वहीं से वह किसी-न-किसी बहाने पलट जाती। मेरे आगे-आगे अथवा मेरे पीछे-पीछे वह बच्चों से, सहेलियों से या अध्यापक जी से बातें करती हुई आती। उसके नन्हे-नन्हे ठहाकों की घंटियाँ बराबर मेरे कानों में बजती रहतीं। उसकी निगाहें अपने अदृश्य जाल मेरे गिर्द बुनती रहतीं और मैं सोचता—'मैं देवनगर से जा भी सकूँगा, इन जालों से निकल भी सकूँगा?'

अब सोचता हूँ तो पाता हूँ कि उस दिन जब मैंने देवा जी से कहा था, मैं जाना चाहता हूँ तो यदि मैं उनकी बातों के जादू में आकर वहाँ बने रहने के बदले चला जाता तो बहुत ही अच्छा होता। तब शायद मुझे या वाणी को वैसी यन्त्रणा न सहनी पड़ती।

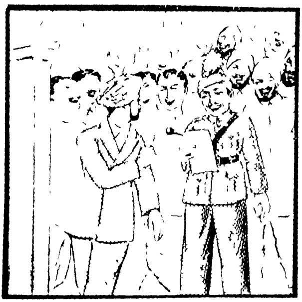

पाँच अप्रैल को स्कूल का उद्-घाटन और देव-सम्मेलन होने वाला था, पर देवनगर में कई दिन पहले से ही तैयारियाँ शुरू हो गयी थीं। प्रैक्टिकल स्कूल का भवन अभी पूरा तो क्या आधा भी न बना था। देवा जी की कोशिश थी कि सम्मेलन के अवसर पर कम-से-कम भवन इतना बन जाय कि देखने वालों के सामने उसकी रूप-रेखा स्पष्ट हो सके। बनने पर उसकी शक्ल अंग्रेजी के उलटे 'वाई' अक्षर सरीखी होती। देवा जी चाहते थे कि सामने का भाग याने दो विंग बन जायं, ताकि सम्मेलन में आने वालों को उसकी भव्यता का कुछ आभास मिल सके। नन्दलाल उन दिनों प्रातः से सायं तक व्यस्त रहता। शाम को आता तो इतना थका रहता कि उसे मोजे उतारना

और हाथ-पैर धोना भी दुष्कर लगता। वह धप्प से जमीन पर बिछे जाजम पर बैठ जाता, मोजे उतार एक ओर फेंक देता और कम्बल ओढ़कर लेट जाता और सो जाता। सावित्री अँगूठे और अँगुली की चोंच बनाकर, मरे हुए चूहों की तरह, उन मोजों को उठाती और खदबदाती हुई उन्हें गुसलखाने के कोने में फेंक, साबुन से हाथ धो लेती। नन्दलाल लंगर में खाना तक खाने न जाता। सावित्री वहीं ले आती और उसे उठाकर बच्चों की तरह खाना खिला और कपड़े बदलवा कर सुला देती।

बाहर के लोग सम्मेलन में शामिल होने के बारे में पूछताछ कर रहे थे। देवसैनिकों के कुछ सगे-सम्बन्धी आ भी गये थे। इसलिए तीरथराम आवभगत में और हरमोहन आने वाले लोगों के लिए चाय, दूध, नाश्ता और खाने-पीने की व्यवस्था में लगा हुआ था।

ज्ञानी दिलावरसिंह के जिम्मे, आनेवालों को देवा जी के बदले देवनगर की सैर कराने और देवमण्डल के सपने और सिद्धान्त समझाने का काम था। देवा जी केवल विशिष्ट व्यक्तियों को स्वयं देवनगर दिखाते, बाक़ी लोगों को ज्ञानी जी सम्हालते।

पालासिंह आर्टिस्ट थे, इसलिए उनके सिर पर देवनगर और सम्मेलन-स्थल को कलापूर्ण ढंग से सजाने का काम था। कोठियों के आगे मेंहदी की ऊँची-ऊँची बाड़ें इस प्रकार काटी गयी थीं कि उनमें छोटे-छोटे महराब बन गये थे। हर कोठी के बरामदे में गमले रखवा दिये गये थे। किचन को जाने वाली रविशों की बाड़ें बड़े अच्छे ढंग से छटवा दी गयी थीं। गड्ढे भरवा दिये गये थे। स्कूल का गेट बड़े ही कलापूर्ण ढंग से बनाया जा रहा था और उसपर सरदार पालासिंह आर्टिस्ट के आर्ट की स्पष्ट छाप थी।

बड़ी-बड़ी आँखे

स्कूल के सेक्रेटरी की हैसियत से, अपने तमाम मत-भेदों के बावजूद, मधवार साहब अध-बने कमरों की लीपा-पोती के बाद, उन्हें सँवारने-सजाने और उनकी सूरत निकालने में निमग्न थे। "बच्चों को पीटना उनकी आत्मा को हमेशा के लिए कुचल देना है।" . . . "बच्चों की समझ का इलाज करने से पहले अपनी समझ का इलाज कीजिए!" . . . "उलझे दिमाग बच्चे ही नहीं होते, माँ-बाप भी होते हैं।" . . "अपनी रुचि बच्चे पर न लादिए," . . . "बालक मानव का पिता है," . और ऐसे ही दसियों आदर्श-वाक्य लाल कपड़ों पर स्वर्ण-रजत अक्षरों में लिखे विभिन्न कमरों की दीवारों और सभास्थल के बरामदों में चमचमा रहे थे। एक विंग में क्लासें थीं, दूसरे में असली शिक्षा के लिए खड्डियों, बढ़ईगीरी, चित्रकारी, बच्चों के अपने बैंक, डाकखाने और कोआपरेटिव स्टोर का प्रबन्ध था। कमरों के बाहर सुन्दर अक्षरों में उनके नामों की तख्तियाँ लिखवाकर टँगवायी जा रही थीं। धरती क्योंकि ऊसर थी, इसलिए नहर से मिट्टी मँगा कर स्कूल के बाहर के अहाते में फूलों की रविशें बना दी गयी थीं। सुबह से शाम तक, गहर-गम्भीर बने मधवार साहब इस सब व्यवस्था में निरत रहते थे।

अध्यापक लोग इस विराट प्रदर्शन के लिए दर्शनीय छात्र तैयार करने में लगे थे। देवा जी चाहते थे कि जब सम्मेलन हो तो दर्शकों को लड़के बैंक और खड्डियों आदि में काम करते दिखायी दें। इसलिए जल्दी-जल्दी कुछ लड़के तैयार कर लिये गये थे। बच्चों का छोटा-सा बैंड भी तैयार किया गया था, जिन्हें किसी-न-किसी तरह अभियान-गान की एक धुन सिखा दी गयी थी। कोठियों के सामने ऊसर में धरती समतल करके एक ग्राउण्ड बना दी गयी थी। लड़कों

के लिए हॉकियाँ आ गयी थी। शाम को वहाँ खेल होता। सुबह बाकायदा कवायद होती। दो-तीन बार बडे लडके गाँवों मे जाकर बेलन पर गन्ने को पेरे जाते और बडे-बडे कड़ाहों मे गुड़ बनते देख आये थे। इन सब बातो के सम्बन्ध में अध्यापकों ने उन्हें बडे सुन्दर नोट लिखा दिये थे और वे सब कापियाँ प्रदर्शनी के लिए रख दी गयी थी। ड्राइंग और किडर-गार्टन के कमरों की दीवारों पर श्री पालासिह आर्टिस्ट की सहायता से बच्चों के बनाये चित्र टाँग दिये गये थे, जिनमे बच्चो का प्रयास कम और श्री पालासिह का ज्यादा था। इनमे एक चित्र रामाथापा के बच्चे का भी था। चित्र और रामा-थापा का बच्चा दोनों सम्मेलन की दर्शनीय चीजें थी और अध्यापकों को आदेश था कि उन दोनो की ओर आने वालों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करे!

उन दिनों नबी की भी बड़ी पूछ थी। उसे राजगीरी का काम आता था। उसने पुरानी फसील की बची-खुची छोटी-छोटी ईटों की मदद से प्रैक्टिकल स्कूल का एक आदम-कद मॉडल बाहर स्कूल के अहाते मे बना दिया था। जो भी व्यक्ति देवनगर आता उसे प्रैक्टिकल स्कूल, उसके बच्चों की सरगर्मियाँ, रामा थापा के बच्चे की तस्वीर, नबी का मॉडल और साथ ही उन दोनों बच्चों को भी दिखाया जाता।

देवा जी ने इस अवसर के लिए विशेष रूप से कुछ लेख लिखे थे, जिन्हे वे ट्रैक्टों के रूप मे हिन्दी, उर्दू और गुरमुखी-तीनों भाषाओं में छपवाना चाहते थे। उन सारे लेखों का एकमात्र उद्देश्य यह था कि देवमण्डल के अनुयायी और 'देववाणी' के पाठक धडाधड अपने बच्चों को प्रैक्टिकल स्कूल मे भरती कराये, कि इसी मे उनकी निष्कृति

है। इन लेखों को उर्दू-हिन्दी में करने का काम मुझे सौंपा गया। और मैं दिन-रात उनका अनुवाद करने में संलग्न रहने लगा।

एक नम्बर की कोठी के बड़े हिस्से में एक नये देवसैनिक जो नये-नये वकील हुए थे, आ गये। देवमण्डल की कानूनी सरगर्मियों का काम उन्हें सौंपा गया था। उनके विवाह को पाँच साल हो गये थे, पर उनके कोई बच्चा न हुआ था और उनकी पत्नी की आँखों में सब के लिए उत्साह उमड़ा पड़ता था। न जाने क्यों, मेरा वहाँ रहना उन्हें अच्छा न लगा। तीरथराम और हरमोहन ने आते ही उन्हें अपने स्नेह की छाया में ले लिया। एक दिन देवा जी ने कहा कि मैं ज्ञानी दिलावरसिंह के यहाँ उठ आऊँ, क्योंकि नैनिहालसिंह—यही उन नये वकील साहब का शुभ नाम था—चाहते थे कि तीरथराम उनके निकट रहे। वे नये-नये देवसैनिक बने थे। उनके पिता ने दो कोठियों के लिए जमीन देवनगर में खरीदी थी। उनकी दो बहनें और दो भाई प्रैक्टिकल स्कूल में दाखिल हो गये थे और इसलिए उनकी इच्छा आदेश का दरजा रखती थी। मैं अपना बोरिया-बिस्तर उठाकर नौ नम्बर की कोठी में ज्ञानी दिलावरसिंह के साथ आ गया। स्कूल वहाँ से बड़ा निकट पड़ता था। काम करता-करता मैं एक-आध चक्कर वहाँ भी लगा आता और जरूरत पड़ने पर मधवार साहब की सहायता कर आता।

वाणी उन दिनों बड़ी व्यस्त थी। देवा जी की बड़ी लड़की और स्कूल की बड़ी छात्रा होने के कारण उसकी सरगर्मियों का अन्त न था। हर वक्त, हर जगह वह दिखायी देती थी। लेकिन इन सब सरगर्मियों में भी वह मुझे नवी की गति-विधि से परिचित कराना न भूलती थी। उसके मॉडल की एक-एक ईंट कैसे रखी गयी, इसका रत्ती-रत्ती ब्योरा उसने मुझे दिया था। उन दिनों मेरे अपने मन में न

जाने कैसा उत्साह अगबगा कर जग उठा कि मैं अपने काम के अतिरिक्त दूसरे सभी कामों में योग देने लगा था और हिंस्र आँखों के भय से साँझ-सवेरे धुँधलकों में मिलने वाली दृष्टियाँ इस आम उत्साह के दिवा-प्रकाश में मुखर हो उन्मुक्त खेलने लगी थीं।

लेकिन तभी उनके बीच एक अभेद्य दीवार आ खड़ी हुई।

सम्मेलन में अभी पाँच दिन शेष थे। अप्रैल की पहली तारीख़ थी। मेरे कस्बे से दो-एक परिचित और मित्र मेरे भाई के साथ देवनगर देखने आ गये। उनके आगमन ने मेरा उत्साह और भी बढ़ा दिया। मैं उन्हें अपने साथ देवनगर, उसकी कोठियाँ, ड्योढ़ी, लंगर, प्रेस, गुम्बद, उसमें बैठने वाले देवा जी, प्रैक्टिकल स्कूल, उसमें नबी का मॉडल, और रामा थापा के बच्चे का चित्र— सब दिखाता फिरा। यह कहने की जरूरत नहीं कि देवा जी की दोनों लड़कियों के बड़े सुन्दर चित्र भी वहाँ लगे हुए थे और अमीरों के जितने बच्चे स्कूल में आये थे उनका कुछ-न-कुछ दर्शनीय काम वहाँ मौजूद था। मैंने अपने कस्बे के मित्रों को एक-एक चीज दिखायी। देवनगर से असन्तुष्ट लोगों की तरह नहीं, देवनगर के प्रशंसक देवसैनिकों की तरह। असन्तोष यदि कहीं था तो वह उस उत्साह में दब गया था। जबान पर वह नहीं आया। मेरे कस्बे के मित्र इतने प्रसन्न और प्रभावित हुए कि उन्होंने पाँच तारीख़ को सम्मेलन में आने का पक्का इरादा कर लिया और एक ने तो देवा जी को इस बात का वचन भी दे दिया कि वह अपने पिता से कहकर देवनगर में एक कोठी बनवायेंगे।

बड़ी-बड़ी आँखें

सुबह का वक्त था। दस बजे होंगे। नहा-धोकर और नाश्ता करके मैं बस पर अपने मित्रों को छोड़ने जा रहा था कि सामने हरमोहन के साथ पत्थरचट्टी के थाने का हेड कान्स्टेबल आता दिखायी दिया। देवा जी सदा इस बात की घोषणा करते थे कि वे पुलिस को रिश्वत देने के विरुद्ध हैं। पुलिस द्वारा गाँव वालों पर जो अत्याचार होते थे, वे उनका मुकाबला करने, जरूरत पड़े तो न्याय की माँग में हर कुर्बानी करने का भी उपदेश दिया करते थे, लेकिन देवनगर का कोई भी त्यौहार या उत्सव हो, वे पत्थरचट्टी के थानेदार और हेड-कान्स्टेबल को निमन्त्रित करना न भूलते थे। देव-सम्मेलन से पाँच दिन पहले 'पत्थरचट्टी' के यमदूत को देवनगर में देखकर मैं मुस्कराया और मुझे विश्वास हो गया कि सम्मेलन के अवसर पर सारा थाना जरूर आयेगा।

मैं उनके पास से निकला जा रहा था कि हेड-कान्स्टेबल ने पूछा—"आपका नाम सगीतसिंह है?"

मैं रुक गया।

"आपके नाम का एक वारेण्ट है।"

"वारेण्ट!" मेरा दिल धक से रह गया। "काहे का वारेण्ट?"

"एक लड़की भगाने का इलजाम है।"

"क्या?"

"आप हो आइए," हरमोहन ने मुझसे कहा, "अपने साथियों को बस पर चढ़ा आइए। मैं सारजेंट साहब को ड्योढ़ी में बैठाता हूँ।"

"लेकिन मेरे नाम वारेण्ट कैसे हो सकता है?" मैंने कहा, "किसी दूसरे के नाम होगा। ग़लती से इधर आ गया होगा।"

"यही मैंने इनसे कहा है," हरमोहन बोला, "जरूर गलती हुई है। आप मित्रों को चढा आइए बस पर !"

"जी नहीं," सारजेंट ने कहा—"यह देखिए 'संगीनसिंह देवनगर' लिखा है।"

"हाँ, हाँ...." हरमोहन ने हेड-कान्स्टेबल को शान्त करते और उसके कंधे को थपथपाते हुए कहा, "इनके मित्र आये हुए हैं, इन्हें बस पर चढ़ा आने दीजिए, ये कहीं न जायँगे, इसकी मैं गारण्टी लेता हूँ।"

मैंने एक उड़ती-सी निगाह वारेण्ट पर डाली। मेरी आँखों ने अपना नाम जरूर देखा, पर उसके बाद कुछ अँधेरा-सा छा गया। चेहरा शायद उतर गया। सूखे गले से मैंने अपने मित्रों से कहा—"आप चलिए, बस निकल जायगी," और मैं मुड़ा।

"नहीं, नहीं, आप इन्हें बस पर चढ़ा आइए!" हरमोहन ने कहा, "मैं सारजेंट साहब को बैठाता हूँ। अपने ही आदमी हैं।"

लेकिन न जाने क्यों, मित्रों के सामने आँख उठाना तक मेरे लिए दुष्कर हो गया। बिना उनकी ओर देखे मैंने कहा—"आप चलिए, बस निकल जायगी, मैं जरा इनसे निबट लूँ।"

और मैं उनके साथ वापस फिरा।

शायद मेरे उतरे हुए मुख अथवा सारजेंट की उपस्थिति के कारण मेरे साथी गये नहीं। कुछ अन्तर पर पीछे-पीछे आने लगे। लेकिन मैंने उनकी ओर फिर नहीं देखा। चलते-चलते दो-एक बार मैंने वारेण्ट पर नजर डालने की कोशिश की पर हर बार आँखों के सामने अँधेरा सा छा गया।

बड़ी-बड़ी आँखें

अब इतने दिन बाद सोचता हूं तो हँसी आती है कि मेरा दिमाग उस समय कहाँ घास चरने चला गया था ? क्यों मैंने ध्यान से वारेण्ट को नही पढ़ा ? पर कस्बे की फिजा मे पलने और सदा पुलिस के अत्याचारों के किस्से सुनते रहने के कारण शायद अनजाने ही कुछ ऐसा आतक-सा मन मे बैठ गया था कि वारेण्ट का नाम सुनते ही दिल धड़क उठा और समझ की सारी शक्तियाँ जवाब दे गयी। मेरे भाई और मेरे कस्बे के मित्रों की उपस्थिति भी शायद मेरी उस घबराहट का कारण थी। मै शान्ति के साथ कमरे में बैठा होता और सारजेट आता तो मै बड़े धीरज से वारेण्ट को पढता, पर खुशी के उस मूड में, बस पर अपने कस्बे के साथियों और मित्रों को चढाने जाते हुए, इस बात की घोषणा कि मुझपर लड़की को भगाने का अभियोग है, इतनी अप्रत्याशित थी कि मै एकदम घबरा गया।

चलते-चलते मैंने ड्योढी के रास्ते में फिर दो-एक बार वारेण्ट पर नज़र दौडाने की कोशिश की, पर अपने नाम से आगे मेरी निगाहें नहीं गयी।

"किस लड़की को भगाने का इलजाम है ?" मैंने कुछ रुककर पूछा।

"यह तो आप जानते होंगे।"

"जानता तो क्यों पूछता ?"

"तेरह-चौदह बरस की छोटी, पतली, छरहरी नाबालिग़ लड़की है। नाम लिखा है।"

मैंने लड़की का नाम पढ़ने की कोशिश की, पर आँखों के आगे फिर अँधेरा छा गया।

ड्योढ़ी में पहुँचकर मै रेडियो के साथ वाली बैंच पर बैठ गया और फिर मैंने एक बार वारेण्ट पढ़ने की कोशिश की, लेकिन फिर

असफल रहा। ओठों ही में मैंने जो कहना चाहा उसका मतलब कुछ यह था कि किसी ने गलत रिपोर्ट दी है, मैं किसी लड़की को नहीं जानता।

"यदि कोई आपकी ज़मानत दे दे तो यह बाद मे तय हो जायगा, नही तो आपको मेरे साथ चलना होगा।"

तभी मेरी नजर दरवाज़े पर खड़े अपने मित्रों पर पड़ी जो वापस आ गये थे और मेरा साहस बँधा। "मेरे मित्र मेरे गाँव से आये हुए है, बड़े अमीर घराने के है," मैंने कहा, "वे ज़मानत दे देंगे?"

"पर हम उन्हे नही जानते। देवा जी या हरमोहन जमानत दे दे तो ठीक है।"

मैं कुछ क्षण को दोनों हाथों में सिर देकर बैठ गया।

जब कुछ देर बाद मैंने सिर उठाया कि हरमोहन से जमानत देने को कहूँ और देखूँ कि उसकी आँखों मे हमदर्दी है या उपेक्षा ....तो मैंने देखा, सारा देवनगर धीरे-धीरे आकर ड्योढी मे इकट्ठा हो गया है। न सिर्फ सब देवसैनिक है, वरन् उनकी पत्नियाँ भी है। और तो और ज्ञानी दिलावरसिंह और पंडित हजारीलाल के घर से भी स्त्रियाँ आ गयी है और अजीब-सी खसर-फसर हो रही है। यदि वाणी भी इनमें हुई।....और इस विचार से ही कि वह मुझे इस दशा मे देखकर क्या सोचेगी, मेरा दिल बैठ गया। पर एक नज़र देखने पर मुझे सन्तोष हुआ—उन सब तमाशाइयों मे वाणी मौजूद न थी।

तभी माता जी से मेरी निगाहे चार हुई। उनमे अजीब-सी उल्लासभरी चमक थी। और सावित्री! उसके ओठों पर मुस्कान और आँखों मे शरारत थी।....फिर मैंने जिस-जिसके चेहरे को देखा उसे अपने साथ हमदर्दी रखने के बदले मुस्कराते पाया, यहाँ

तक कि सारजेंट की आँखों मे भी क्षीण-सी मुस्कराहट थी।...न जाने इस घबराहट मे कब तीरथराम ने मेरे हाथ से वारेण्ट ले लिया था। जब मैंने उसकी ओर देखा तो वह ऊँची आवाज से सब उपस्थित लोगों को वारेण्ट की धारा और अभियोग सुना-सुनाकर उसकी व्याख्या कर रहा था।

तब जाने कैसे अचानक बिजली के कौंधे की लपक-सा सब कुछ मेरे सामने स्पष्ट हो गया। मे एकदम उठा और मैंने सारजेंट को डाँटा कि इस मजाक का फल उसे भोगना पडेगा, मैं सुपरिंटेंडेंट को रिपोर्ट करूँगा। और मैं बगूले-सा ड्योढी से निकला। बाहर मेरे साथी और मित्र खडे थे। चेहरे उनके उतरे थे। "यह सब मजाक है, आप लोग जाइए, आपकी बस चली जायगी," यह कहता हुआ मैं उसी तेजी से अपने कमरे की ओर बढा। अपने पीछे मैंने 'एप्रिल फ़ूल' 'एप्रिल फ़ूल' की आवाजे सुनी। मैंने पलटकर नही देखा। बढता हुआ मे अपनी कोठी मे आया और दरवाजे की चिटखनी चढ़ाकर धम से कुर्सी पर जा बैठा।

देर तक देवसैनिक मेरे किवाड खटखटाते और 'एप्रिल फ़ूल' 'एप्रिल फ़ूल' चिल्लाते रहे। लेकिन मैं टस-से-मस न हुआ। मेज़ पर बाजू रखे सिर को उनमें टिकाये, औंधे मुँह झुका बैठा रहा।

दोपहर का खाना खाने मै नही गया। ज्ञानी दिलावरसिह एक-दो बार आये, पर मैंने दरवाजे नही खोले। अपने कस्बे के दोस्तों के सामने वह मजाक मुझे बेहद क्रूर लगा। फिर अपने कमरे की तनहाई मे मेज पर बैठे-बैठे उस अभियोग की वास्तविकता मुझ पर खुल गयी। तेरह-चौदह वर्ष की, पतली-सी, छोटी-सी लडकी.....

उनका संकेत निश्चय ही वाणी की ओर था। जरूर यह षडयन्त्र तीरथराम और हरमोहन की सहायता से हुआ है. . . .और मुझे याद आया कि ड्योढी मे इकट्ठे होने वालों मे और सब थे, लेकिन वाणी न थी . . . . अप्रैल की पहली तारीख को उन्हें मेरा मजाक उड़ाना था तो कोई और अभियोग लगा सकते थे, पर अपने मन का जहर उन्होंने उस अभियोग द्वारा प्रकट कर दिया था . . . . तेरह-चौदह वर्ष की पतली, छरहरी, नाबालिग लडकी . . . . और मुझे तीरथराम की व्याख्या याद आयी—'सगीत जी को छोटी-छोटी नाबालिग लड़कियों को भरमाना खूब आता है।' कमरे मे मेरा दम घुटने लगा। मै उठा। किवाड़ बन्द कर मैंने ताला लगाया और बाहर निकल मै उस विराट बरगद के नीचे पहुंचा जहाँ सन्नाटा था, अंधेरा था और शांति थी। घने सायों मे सील की कुछ अजीब-सी बू थी। पत्ते बिखरे पड़े थे। लम्बी-लम्बी दाढियाँ लटक रही थी। नीचे धरती पर सफरी बनजारों ने ईटें इकट्ठी कर जगह-जगह चूल्हे बना रखे थे। न जाने आग उनमे कब जली थी। राख उड़ चुकी थी, केवल उसकी स्याही बाकी थी। ऊपर घनी शाखाओं मे ढेर-सी चमगादडे उल्टी लटकी हुई थी। मेरे जाने से वे एक साथ 'शा-शा' कर चीख़ उठी। दो-एक तोते अपनी कोटरों से बाहर निकले और उड़ गये। बड़ी देर तक मन-ही-मन सुलगता-जलता मै घूमता रहा। बरगद के परे कपास का खेत बिल्कुल सूख गया था। कपास झड़ चुकी थी। केवल सूखे डठल काटे जाने की प्रतीक्षा मे खडे थे। परे दूर तक कार्तिक मे बोयी गेहूँ की फसल पकी खड़ी थी। हवा के हलके-से झोंके से सुनहरी बालियाँ आमूल सिहर जाती और हवा का तेज़ झोंका आता तो उसके रुख़ को झुक जाती।

न जाने मैं कितनी देर तक घूमता रहा, लेकिन सूरज बरगद के ऊपर था कि पश्चिम के क्षितिज पर गहरा पीला बादल उठा। 'शायद आँधी है।' मैंने सोचा लेकिन आँधी के दिन कहाँ ?— मन ने कहा। सोच ही रहा था कि बादल का वह टुकड़ा तेज हवा के पखों पर उडता हुआ बढ़कर सारे आकाश पर छा गया। 'यह तो ओलों का बादल है।' मन-ही-मन सोचता मैं तेजी से पलटा।

कोठी में पाँव रखा ही था कि सूखे अम्बर पत्थर पड़ने लगे। देखते-देखते सारी धरती सफेद हो गयी। कभी-कभी कोई मोटा पत्थर बरामदे के फ़र्श पर जोर-से आ गिरता और चूर-चूर होकर बिखर जाता। तेज हवा चल रही थी और खासी ठड हो गयी थी। कुछ देर तक मैं बरामदे में खड़ा पत्थर पड़ते देखता रहा फिर अन्दर कमरे मे चला गया।

अभी मुश्किल से बैठा हूँगा कि देवा जी का नौकर छाता ताने एक चिट्ठी लाया।

"वाणी बीबी ने दी है।" उसने कहा।

वाणी की चिट्ठी ! मेरा दिल धडक उठा। मैंने चिट्ठी ले ली। नौकर चला गया। छोटे-छोटे पर बडे साफ़ अक्षरों मे लिखा था :

संगीत जी,

आज देवनगर मे आपके साथ जो सलूक हुआ है उसके लिए मन बडा दुखी है। दुनिया बेदार नही। दुनिया नही चाहती कि जिधर से वाणी गुजरती है, उधर से संगीत जी गुजरे। या वे वाणी-जैसी नाचीज हस्ती से दो बाजियाँ बैडमिण्टन खेले। इस नगर का नाम चाहे देवनगर है पर यह वास्तव में राक्षस नगर है। दार जी के उपदेश ऊसर में गिरी बूँदों सरीखे है। चाहे

आपने मुझे जो स्नेह दिया है वह एक दम पवित्र है, पर जिनके दिलों में मैल है, वे इसे अपवित्र समझते हैं। आज से हरमोहन भराजी, सुदर्शनसिंह और तीरथराम जी हमारे पीछे लगे हुए हैं। आपने जैसे अब तक व्यवहार किया है वैसे ही और दो-तीन वर्ष करेंगे, यह मैं आपसे प्रार्थना करूँगी। आपकी और अपनी इज्जत के खयाल से मैं ये चन्द पंक्तियाँ लिख रही हूँ। इस पत्र को पढ़कर फाड़ दें।

आपकी
वाणी

पत्र को पढ़कर सुबह का सारा अपमान और क्लेश धुल गया, लेकिन साथ ही एक अजीब-से पीडामय आक्रोश से मन भर उठा। 'यह देवनगर नहीं, राक्षस नगर है।' जब देवनगर के संचालक की पुत्री यह कह सकती है तो औरों की बात दूर रही। फिर हरमोहन, तीरथराम और सुदर्शनसिंह का वह क्रूर षड़यन्त्र! ......देवा जी वहाँ नहीं थे, होते तो शायद उसी समय जाकर मैं उन्हें त्यागपत्र दे आता।

शाम को भी जब मैं खाना खाने नहीं गया और सूखे रस्क खाकर और पानी पीकर लेट गया तो ज्ञानी जी ने मेरा दरवाजा खटखटाया। उठना न चाहता था, बात भी करना न चाहता था, पर उनके बार-बार दस्तक देने पर उठा। मेरे पास चारपाई पर आकर वे बैठ गये। सुबह की घटना का उल्लेख कर उन्होंने कहा—"तुमने न सुबह खाना खाया, न शाम, मुझे बड़ी चिन्ता हो गयी है। भाई तुम्हें मजाक का यों बुरा न मानना चाहिए।"

"मैं मजाक का बुरा नहीं मानता," सहसा मैं बोल उठा, "लेकिन इस मजाक की तह में जो बात है, उसका मुझे दुख है।"

"क्या बात है ?" ज्ञानी जी मेरे निकट हो बैठे और उन्होंने मेरी पीठ को बड़े स्नेह से थपथपा दिया।

मैं चुप रहा।

"क्या बात है ?" उन्होंने फिर मेरी पीठ थपथपायी।

तब न जाने मुझे क्या हुआ, ज्ञानी जी के उस प्रश्न में, घनी सफ़ेद दाढ़ी-मूछों से भरे उनके उस मुख में, बड़ी-बड़ी जिज्ञासापूर्ण उनकी आँखों में क्या बात थी, कैसा विश्वासोत्पादक स्नेह था, या न जाने मेरा ही मन कैसा भरा था कि छलक उठना चाहता था—मैंने पहले दिन से लेकर उस दिन तक तीरथराम, अपने और वाणी के सम्बन्ध की सारी बातें उन्हें बता दीं। कहीं कुछ भी नहीं छिपाया।

ज्ञानी जी, देवा जी के अंध-भक्तों में से थे। उनकी बड़ी लड़की ने न केवल मुझ-जैसे एक साधारण मुलजिम को चाहा है, बल्कि उसे देवनगर के बारे में ऐसा घातक पत्र लिखा है, यह सुनकर उनके मुख पर चिन्ता का गहरा बादल छा गया। कुछ क्षण वे चुप रहे, फिर उन्होंने बड़ी गहर-गम्भीर वाणी में कहा—"आपकी बातें अस्सी प्रतिशत ठीक हैं . . . . ."

"मैंने एक प्रतिशत भी झूठ नहीं बोला।" बात काटकर मैंने कहा।

"आपने झूठ नहीं बोला, आपका अनुमान गलत था।"

मैं चुप रहा।

कुछ क्षण बाद ज्ञानी जी फिर बोले—"तीरथराम ईर्ष्या से आपके पीछे नहीं रहता था, हरमोहन ने उसे नियुक्त कर रखा था . . . . . . !"

"मेरे विरुद्ध अटसंट बातें कहकर उसने अपने आपको नियुक्त करा लिया था, यों कहिए।"

ज्ञानी जी ने मेरी बात की ओर ध्यान नहीं दिया। कुछ क्षण बाद उन्होंने कहा—"आप वह पत्र मुझे दिखा सकते हैं?"

"मैं आपको दिखा सकता हूँ।"

"दिखाइए!"

और मैंने अपने दोनों हाथों मे पत्र थाम कर उन्हे जल्दी-जल्दी पत्र पढा दिया और यद्यपि इस बात की ज़रा भी सम्भावना न थी तो भी इस बात का मैंने ध्यान रखा कि वे छीन न लें।

"यह पत्र आपको मुझे दे देना चाहिए," उन्होंने फिर उसी अनुरोधपूर्ण स्वर मे कहा। फिर क्षण भर बाद बोले, "और आपको त्यागपत्र दे देना चाहिए।"

"पत्र मेरा व्यक्तिगत है, मै आपको क्यों दूँ?" मेरे स्वर में हलकी-सी झल्लाहट थी, "मैं इसका कोई अनुचित लाभ न उठाऊँगा, इसका वचन मै आपको देता हूँ। रहा त्यागपत्र, तो मेरा क्या दोष है कि मै त्यागपत्र दूँ?"

ज्ञानी जी फिर चुप हो गये। वास्तव मे वे उस पत्र को देखकर बड़े चिन्तित हो उठे थे। बहुत देर तक वे मुझसे पत्र माँगते रहे, पर मैंने पत्र देने से एकदम इनकार कर दिया। उन्हे चिन्ता थी कि देव-सम्मेलन होने जा रहा है, पत्र की बात का पता चला तो जाने विरोधियों के हाथ मे वह कैसे गुल खिला दे। आखिर लगभग रात के बारह बजे मुझसे वचन लेकर कि मैं किसी से भी उस पत्र का जिक्र न करूँगा वे चले गये।

लेकिन सुबह ही वे फिर आ गये। मैं रातभर सोया न था, पर वे भी न सोये थे। आते ही उन्होंने फिर वही रट लगा दी। मैंने रात उस चिट्ठी की एक प्रतिलिपि करके रख ली थी। मैंने उनसे कहा—"मैं चिट्ठी आपको दूँगा नहीं, पर आपको यह बताने के लिए कि मेरा इरादा न तो उसे विरोधियों को दिखाने का है और न किसी और को देने का, मैं उसे जला देता हूँ।"

"हाँ आप उसे जला दीजिए!" उन्होंने जैसे सुख की लम्बी साँस ली।

और मैंने उस पत्र को तीली दिखा दी। कुछ क्षण तक जलना और मुड़ता वह पत्र मेरे हाथ में रहा, फिर जब मेरी अँगुलियाँ जलने लगी तो मैंने उसे छोड़ दिया और जलता हुआ वह लाल सीमेंट के फ़र्श पर जा गिरा।

ज्ञानी जी सन्तुष्ट होकर चले गये, तो मेरी नज़र उस जलते हुए पत्र पर चली गयी—काग़ज़ का एक कोना राख से अलग होकर पड़ा था और राख कमरे में उड़ रही थी। मैंने वह काग़ज़ का टुकड़ा उठाया, केवल एक शब्द जलने से रह गया था—वाणी।

———

मन मे एक तूफान सा मचा था। उद्वेग था कि लेखनी मे समा न पा रहा था। शब्दों से कही आगे विचार भागे जा रहे थे और उन्हे पकड़ने के भरसक प्रयास मे लेखनी उनके पीछे सरपट दौड़ी जा रही थी। आधी रात के सन्नाटे में, लैम्प जलाये, अपने कमरे के एकान्त में मैं कागज पर कागज रंगे जा रहा था। .... चार दिन पहले ज्ञानी जी ने मुझे त्यागपत्र देने को कहा था तो मैंने इनकार कर दिया था—'मै क्यों त्यागपत्र दूँ, मेरा क्या दोष है ?' मैंने कहा था, लेकिन अब ज्ञानी जी के लगातार रोकने पर भी, त्यागपत्र न दूँगा—ऐसा वचन उन्हे देने पर भी, बिस्तर छोड़, लैम्प जला, मैं त्यागपत्र लिखने बैठ गया था।

अब सोचता हूँ तो पाता हूँ कि यदि ज्ञानी जी पहली अप्रैल को मुझे त्यागपत्र देने को न कहते तो शायद मैं उस घटना के बाद अपने आप त्यागपत्र दे देता, लेकिन जब उन्होंने वाणी के पत्र को पढ़ कर कहा कि मुझे त्यागपत्र दे देना चाहिए तो उनकी यह माँग मुझे सर्वथा अन्यायपूर्ण लगी और मैं चिल्ला उठा—"मैं क्यों त्यागपत्र दूँ, मेरा क्या दोष है ?"

लेकिन त्यागपत्र न देने के बावजूद उस घटना के बाद मेरा मन देवनगर से कुछ उखड़ गया था। वहाँ रहकर भी जैसे वहाँ नहीं था।

दूसरी सुबह ही 'पत्थरचट्टी', 'बनौली', 'चक हाशिम मिस्त्री' और 'थुल्लर' से गेहूँ की फसल के बरबाद हो जाने की खबरें आने लगी। प्रैक्टिकल स्कूल के उद्घाटनोत्सव पर आने वालों के मनोरंजनार्थ देवा जी ने निकटवर्ती देहातियों के नृत्य, गान तथा खेलों का प्रोग्राम रखा था। इसके आयोजन की ड्यूटी पत्थरचट्टी के थानेदार की मदद मे स्वयं हरमोहन ने अपने जिम्मे ले ली थी। लेकिन जब शाम को हरमोहन वापस आया तो मालूम हुआ कि ओलों का बादल जिस गाँव के ऊपर से होकर गया, उसे बरबाद करता गया। पक्की खड़ी फ़सल पत्थर की मार से तबाह हो गयी थी। गाँवों मे त्राहि-त्राहि मच गयी थी। ऐसे मे नाच-गाने और खेल-कूद को किसका मन था। हरमोहन बड़े-से प्रोग्राम की जो स्कीम बनाकर गया था, वह एकदम चौपट हो गयी थी। दिन भर दौड़-धूप के बाद पत्थरचट्टी के थानेदार के कोप की धमकी और काफ़ी पैसों के लोभ की मदद से वह कुछ टूटी-फूटी मंडलियाँ तैयार कर पाया था।

तब मधवार साहब ने परामर्श दिया कि उद्घाटनोत्सव एक महीने के लिए स्थगित कर दिया जाय। "इर्द-गिर्द के गाँवों मे जब

हाय-हाय मची हुई है तो हमे खुशी मनाना शोभा नही देता," उन्होंने कहा था। देवा जी पहले तो मधवार साहब से सहमत दिखायी दिये और उन्होंने एक बड़ा ही भावुकता-भरा लेख भी 'दैवी विपत्ति मे गॉवों की तबाही' पर लिखा और ऐसी स्थिति मे कुछ भी सहायता न कर सकने के लिए कांग्रेस तथा सरकार दोनों की निन्दा की, पर शायद देवसैनिक तैयार न हुए, (कम-से-कम मधवार साहब से उन्होंने यही कहा) या शायद उन्होंने स्वय इरादा बदल दिया। लेख क्योंकि बन गया था, इसलिए अन्त में उन्होंने एक पैरा और जोड़ दिया--

"देहात की इस तबाही को देखकर मन नही होता कि हम प्रैक्टिकल स्कूल के उद्घाटन का उत्सव मनाये, लेकिन मौत का एक ही जवाब है--जिन्दगी! नाश का एक ही उत्तर है--निर्माण! इसीलिए हम आस-पास की इस तबाही मे घिरे रहकर भी जीवन और निर्माण के इस पर्व को स्थगित नही कर रहे। लेकिन इस खुशी मे हमारी सारी वृत्तियाँ अपने उन्ही भाइयों, साथियों और पडोसियों की ओर लगी हुई है, जो इस दैवी विपत्ति में अपनी सारी कमाई लुटा बैठे है......"

और उस समय जब इर्द-गिर्द के गाँव उस दैवी विपत्ति मे लुटे-पुटे थे और देवनगर मे उत्सव की तैयारियाँ हो रही थी, जाने क्यों मेरा मन निरन्तर उन्ही देहातियों की बात सोचता था, जिन्होंने दिन रात जोत-गोड़ कर, माघ-पूस की सर्दी में सिंचाई करके सोना उगाया था और जिनके इतने दिनों के श्रम को दैव ने यों कुछ क्षणों मे बरबाद कर दिया था।

मै देवा जी से लेख लेने गया था जब पत्थरचट्टी के कुछ किसान आये हुए थे। उनसे मालूम हुआ कि न केवल गेहूँ की बालियाँ ओलों

की मार से बिछ गयी है, बल्कि डंठल भी सड़ रहे हैं। उनको ही नहीं, उनके पशुओंको भी फाकों का सामना है और वे गरीब देहाती देवनगर के बादशाह से मदद माँगने आये हैं।

बादशाह ने उनकी दशा पर बड़े मीठे शब्दों मे अपनी ओर ही से नही, सारे देवनगर की ओर से सहानुभूति प्रकट की, लेकिन साथ ही तत्काल कुछ सहायता देने मे असमर्थता जतायी—"देवमडल के स्थायी फण्ड का बहुत-सा रुपया प्रैक्टिकल स्कूल बनाने में लग गया है," उन्होंने कहा, "पाँच को स्कूल का उद्घाटन हो रहा है। उधर से निबट जायें तो आपके लिए कुछ सहायता की व्यवस्था करूं।"

और किसान चले गये थे। मै देवा जी का अनुवाद सुनाकर और नया लेख लेकर वापस आ गया था। मै जानता था, उन्होंने केवल टालने के लिए मीठे शब्दों मे उन्हे आश्वासन दे दिया है। उन किसानो की दुरावस्था से द्रवित मेरा मन जाने क्यों एकदम उस देवनगर से भाग जाने को होता था। देवा जी बड़े ऊँचे आदर्शवादी, बडे मृदुभाषी और बडे सज्जन लगते थे, पर जब उनके मिठास-भरे शब्दों के पीछे मैं कृत्य के नाम पर एक बडा सा शून्य पाता तो मन सहसा वितृष्णा से भर उठता और लगता कि यह सब ढोंग है और वहाँ काम करना उस ढोंग मे योग देना है।

यह अजीब बात है कि अपनी नौकरी के सम्बन्ध में अच्छे-बुरे उद्देश्य की बात मैंने पहले कभी न सोची थी—उसी तरह जैसे मैं ग़रीबी के सम्बन्ध में पहले कभी न सोच पाया था। लेकिन पहले शायद मै यों सोचने के योग्य ही न था। देवा जी के लेखों ने ही मुझे उस तरह सोचना सिखाया था, पर जब मै उन लेखों द्वारा सीखी हुई बातों को देवसैनिकों के कृत्यों से मिलाने लगा तो मुझे निराशा

होने लगी। फिर वाणी.... जाने क्यों उसकी दृष्टि में उठ जाने की आकांक्षा मेरे मन में अनजाने ही आ बैठी। श्यामा से पता पाने पर उसने जब नबी को स्कूल में दाखिल कराने का वचन दिया और किसी गरीब देहाती के लिए उस तरह चिन्ता करने पर मेरी प्रशंसा की तो चाहे मैंने अपने मुख पर उसका आभास नहीं आने दिया, पर गर्व से मेरा हृदय फूल उठा और उस किशोरी की दृष्टि में हिमालय-सा ऊँचा उठ जाने की आकांक्षा सहज भाव से वहाँ समा गयी।

वाणी की वह चिट्ठी यद्यपि ज्ञानी जी को मैंने दिखा-पढ़ा दी थी, लेकिन उसकी बात मैंने किसी से न कही थी। एप्रिल फ़ूल-सम्बन्धी अपने उस अपमान के बाद क्रोध के पहले आवेग में यद्यपि मैं देवा जी को सब-कुछ बता देना चाहता था, तो भी जब वे दूसरे दिन आ गये तो मैंने उनसे कुछ नहीं कहा। मेरे मन में इतना क्षोभ और दुःख है, इसका भी पता मैंने उन्हें नहीं चलने दिया—चुपचाप लेख ले आया, उनके आदेश सुन लिये, "जी हाँ, जी हाँ" कहा और बस—शायद ज्ञानी जी को सब-कुछ बता देने पर क्रोध का आवेग शान्त हो गया था।

लेकिन उस घटना के बाद मैं देवनगर के उस आम उत्साह में भाग नहीं ले सका, देवनगर की हँसी-खुशी में शामिल नहीं हो सका और न जाने क्यों, वाणी से भी आँख न मिला सका। यद्यपि ज्ञानी-जी ने बहुतेरा कहा, लेकिन मैं खाना खाने डाइनिंग हाल में नहीं गया। ज्ञानी जी दोनों वक्त खाना लाकर देते रहे और मैं कोठी पर ही खाता रहा। आखिर चौथे दिन जब मैंने जाना कि मैं अपेक्षाकृत स्वस्थ हो गया हूँ, मैंने खाना खाने के लिए शाम को डाइनिंग हाल में जाने का फ़ैसला किया।

लेकिन यह मेरा भ्रम था। मेरा घाव भरा न था। ऊपर से चाहे उसपर हलका सा खुरड आ गया था, पर भीतर से वह उसी तरह कच्चा था—ज़रा सी ठेस पर दुख उठने और रिस-बहने वाला! और उसी शाम क्रोध का वह आवेग फिर उसी जोर से उमड़ उठा।

कृष्णपक्ष की अँधेरी शाम थी। तीसरी पाँत की घण्टी बजी तो बाहर अंधकार काफ़ी घना हो गया था। मै सब लोगों के बैठ जाने के बाद हाल मे पहुँचा। बिना किसी से आँख मिलाये, थाली-कटोरी उठाकर पिछली कतार मे अपनी मेज पर जा बैठा जल्दी-जल्दी खाना ख़त्म कर सबसे पहले उठ गया और उसी तरह जल्दी-जल्दी हमाम मे हाथ धोकर अपनी कोठी की ओर चल पड़ा। अभी चन्द ही क़दम बढ़ा था कि मुझे अपने पीछे रुंधी-घुटी आवाज सुनायी दी, "संगीत जी!"

वाणी की आवाज थी। तेज-तेज चलने से उसकी साँस किंचित फूल आयी है, यह मैंने बिना मुड़े जान लिया।

"संगीत जी!"

वह रुंधी-घुटी अनुरोध भरी आवाज! चाहता था, बिना मुड़े, बिना रुके बढ़ जाऊँ, लेकिन पाँव जैसे वहीं जम गये। क़दम जैसे आगे नहीं उठे। वाणी मेरे बराबर आ गयी। पीछे से आने वाले डाइनिंग हाल के धीमे प्रकाश मे उसकी हलकी-सी छाया ही दिखायी दी।

"संगीत जी आप मुझसे क्यों नाराज है?"

मै चुप रहा। हम साथ-साथ चलने लगे।

"चार दिन हो गये है, मै आपसे दो बात करने को तरस रही हूँ, पर आपकी सूरत तक दिखायी नही दी। मै जानती हूँ, आपके मन

मे बड़ा क्रोध है, क्षोभ है, लेकिन दूसरों की छुटाई देखकर क्या आप अपनी बड़ाई छोड देगे? तीरथराम, हरमोहन और सुदर्शन-भरा जी ने जो कुछ किया है, उसके लिए आप मुझे क्षमा कर दे!"

उसकी आवाज रुँध गयी थी, कण्ठ आर्द्र हो आया था। उस अँधेरे मे कुछ दिखायी नही दिया, पर मेरी आँखों के सामने उसकी बड़ी-बडी छलछलायी पनियारी आँखे, सफेद उडा-उडा मुख और कण्ठ-भाग के उभरे लोम-रन्ध्र घूम गये। इससे पहले कि मै कुछ कहता, हमारे पीछे से तेज-तेज चलने और बाते करते तीरथराम, हरमोहन और सुदर्शनसिह आये और वैसे ही बाते करते-करते हमसे जरा अन्तर पर आगे-आगे चलने लगे। वाणी चुप हो गयी, उत्तर सुने बिना जरा आगे बढ गयी, जैसे वह मेरे साथ न चल रही हो! . . . 'आज से तीरथराम, हरमोहन और सुदर्शन भरा जी हमारे पीछे लगे है,' वाणी के पत्र की यह पंक्ति मेरे दिमाग मे कौध गयी और क्रोध का बगूला मेरे मन मे उठकर मेरे दिमाग की नस-नस मे छा गया। मैंने अपनी चाल तेज कर दी। पहले वाणी और फिर तीरथराम और सुदर्शन को पीछे छोडता हुआ मै आँधी सा चलता, अपने कमरे में आया। लैम्प जलाया, पैड उठाया और देवा जी के नाम चिट्ठी लिखने बैठ गया. . . . .

"कहो भाई, क्या हो रहा है?" मुझे आया हुआ जान ज्ञानी जी दरवाजे में 'प्रकट' हुए।

मै अपने आवेग मे किवाड तक लगाना भूल गया था। बिना सिर उठाये मैंने उत्तर दिया—"त्यागपत्र लिख रहा हूँ!"

"त्यागपत्र!" चकित से वे मेरे सामने कुर्सी पर आ बैठे।

"जी !" मैंने क्षण भर कलम रोक कर कहा, "आपने मुझसे त्यागपत्र देने को कहा था। मैंने फैसला किया है कि आप ठीक कहते हैं, मुझे त्यागपत्र दे देना चाहिए।"

ज्ञानी जी चुप मेरी ओर देखते रहे—लेकिन मैं बोलता गया—

"तब मैंने सोचा था, मेरा क्या दोष है, मैं क्यों त्यागपत्र दूँ? पर अब मैं सोचता हूँ मेरा दोष है कि मैं ऐसी जगह बना हुआ हूँ, जहाँ किसी स्वतन्त्र-वृत्ति के आदमी के लिए कोई जगह नहीं, जहाँ वास्तव में ईर्ष्या, द्वेष, सकीर्णता और ओछेपन का राज है, जहाँ प्रेम के स्थान पर नफरत और विश्वास के स्थान पर सन्देह है और मैंने तय किया है कि मैं देवनगर के वासियों और अपने आप पर दया करूँ और त्यागपत्र दे दूँ!"

देवनगर की निन्दा सुनने पर ज्ञानी जी का चेहरा लाल हो गया, पर बरबस सयत रहकर उन्होंने कहा—"तो आप यह सब त्यागपत्र में लिखने जा रहे हैं।"

"हाँ!"

"आप यह नहीं सोचते कि इससे देवा जी को कितना दुःख होगा। कल उद्घाटन-समारोह है, बाहर से इतने आदमी आये हैं। आपके इस त्यागपत्र को पाकर देवा जी कितने परेशान होंगे।"

"मेरे लिए अब यहाँ एक दिन रहना भी मुश्किल हो गया है।"

और मैंने ज्ञानी जी को कुछ क्षण पहले की घटना सुना दी।

ज्ञानी जी पल भर बैठे चुपचाप सोचते रहे। फिर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ कहना शुरू किया—"अव्वल तो यह आपका भ्रम है कि लोग आपके पीछे लगे हैं। वाणी बच्ची है। उसने यदि बचपने में वैसा लिखा है तो यह नहीं कि वह सोलहों आने सच है। तीरथ और

सुदर्शन चाहे वैसे ही खाना खाकर निकले हों, पर क्योंकि आपके मन में सन्देह है, आपको लगा कि वे आपका पीछा कर रहे हैं।"

"भ्रम की बात नहीं, यह सच है और इसे मैं ही जान सकता हूँ।"

"सच भी हो," ज्ञानी जी ने उसी धीर-गम्भीर वाणी में कहा, "तो भी आपको इतना अनुदार न होना चाहिए। देवनगर तीरथराम, हरमोहन और सुदर्शनसिंह का नहीं, देवा जी का और हमारा सपना है और इसके टूटने से उनको नहीं, हमें दुःख होता है। आप यह सब लिखेंगे तो आप नहीं जानते, देवा जी को कितनी पीड़ा होगी। आपको तीरथ, हरमोहन या सुदर्शन से शिकायत है, देवा जी से तो नहीं, फिर आप उनका दिल क्यों दुखायें। अव्वल तो मैं आपसे यह कहूँगा कि अब त्यागपत्र देने की जरूरत नहीं। आपने मुझे सब कुछ बता दिया है। आप मुझे सब बताते रहें तो आपको कोई कष्ट न होगा, लेकिन यदि आपको किसी तरह भी यहाँ रहना स्वीकार न हो तो आप इस तरह दुःख पहुँचाकर क्यों जायें? रंग में भंग डालकर क्यों जायें? उत्सव होने दीजिए, न मन लगे तो चुपचाप सीधे त्यागपत्र देकर चले जाइएगा। इस घटना के बारे में देवा जी को कुछ मालूम नहीं। उन्हें यह सब बताकर आपको क्या मिलेगा?"

और मैं चुप रह गया। ज्ञानी जी की इस बात का कोई उत्तर मुझसे न बन पड़ा। 'शत्रु बनकर बिछुड़ने से मित्र बने रहकर बिछुड़ना अच्छा है,' अंग्रेजों की यह कहावत मेरे कानों में गूँज गयी। मैंने लिखा हुआ कागज़ फाड़ दिया और ज्ञानी जी से वादा किया कि मैं त्यागपत्र न दूँगा, दूँगा भी तो उत्सव के गुजर जाने की प्रतीक्षा करूँगा।

ज्ञानी जी देर तक देवनगर के बारे में अपने सपनों, उन सपनों की पूर्ति के रास्ते की रुकावटों, देवसैनिकों की त्रुटियों और उन त्रुटियों के रहते भी देवनगर के सपने को सच कर दिखाने में देवा जी के अडिग विश्वास का उल्लेख करते रहे। उन्होंने मुझसे वचन ले लिया कि मेरे-जैसा 'समझदार' आदमी कम-से-कम उन कठिनाइयों को बढ़ायेगा नहीं।

ज्ञानी जी सन्तुष्ट होकर चले गये तो मैं लैम्प बुझाकर चारपाई पर लेट गया।

लेट गया, लेकिन सो नहीं सका। लेटते ही ज्ञानी जी के साथ अपनी सारी बातचीत फिर से मेरे कानों मे गूँज गयी और मुझे लगा कि ये लोग ठीक स्थिति से देवा जी को सदा अपरिचित रखते हैं। देवनगर के जिस विराट सपने के शिखर पर वे बैठे हैं, उन्हे मालूम नहीं कि उसकी नींव उनके अनजाने ही नीचे से खिसकी जा रही है। उन्हें मालूम नहीं कि उनकी नाक के नीचे, उनके प्रिय नगर में नफरत और विद्वेष का बाजार गर्म है और उन्होंने जो सिद्धान्त बनाये हैं, वे उनके सामने ही तोड़े जा रहे हैं। उन्हे मालूम नहीं कि उनकी अपनी लडकी पिंजरे मे बन्द चिड़िया-सरीखी तड़पती है। वाणी की चिट्ठी के शब्द बार-बार मेरी आँखों के सामने घूमने लगे। डाइनिंग हाल से आते-आते अभी कुछ घंटे पहले उसने कहा था—"चार दिन हो गये है, मै आपसे दो बात करने को तरस रही हूँ।......"

और मै उछलकर चारपाई से उठ बैठा......

......नहीं, यह नहीं होगा, देवा जी को सब-कुछ बताना होगा। बताना होगा कि उनका देवनगर राक्षस-नगर बन रहा है

उनकी अपनी लड़की उन राक्षसों के चंगुल में फँसकर क्षण-क्षण घुटी जा रही है....न बताना कायरता होगी, बददयानती होगी ....उद्घाटनोत्सव ?...वे बड़े-बड़े भाषण देंगे और उनकी अपनी लड़की मन में उनपर हँसेगी ! इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी ? इस विडम्बना से उन्हें बचाना होगा ! ...और मैंने उठकर लैम्प जलाया, लोई ओढ़ी, मेज पर जा बैठा और कागज-कलम उठाकर सर्र-सर्र लिखने लगा।

"आदरणीय देवा जी,

आधी रात के सन्नाटे में अन्तर का गला घोंट देने वाले आवेग में विवश होकर मैं चन्द पंक्तियाँ आपको लिखने जा रहा हूँ। मैं जानता हूँ, इन्हें पढ़कर आपको दुःख होगा। ज्ञानी जी ने मुझे यह सब अभी लिखने से रोका है। लेकिन मैं समझता हूँ कि यह सब न लिखना आपके और अपने साथ धोखा करना है। मैंने बहुत सोचा है—इतना कि मेरी रात की नींद हराम हो गयी है और मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि स्थिति जैसी भी है, उसमें एक दिन भी और यहाँ रहना मेरे लिए असम्भव है। मुझे तत्काल अपना त्यागपत्र दे देना चाहिए और आपसे प्रार्थना करनी चाहिए कि आप मुझे ऐसी स्थिति में एक दिन भी और यहाँ रहने को विवश न करें।

लेकिन इससे पहले कि मैं आपसे आपके आश्वासन के बाद भी छुट्टी माँगूँ, मैं इस त्यागपत्र का कारण लिखना चाहूँगा। ज्ञानी जी कहते हैं—'इससे आपको दुःख होगा।' मैं जानता हूँ, लेकिन सत्य कटु है और यह कटु सत्य मुझे आपके सामने रखना है। इसलिए कि मैं इसे अपना एक कर्त्तव्य समझता हूँ।"

ज्ञानी जी देर तक देवनगर के बारे में अपने सपनों, उन सपनों की पूर्ति के रास्ते की रुकावटों, देवसैनिकों की त्रुटियों और उन त्रुटियों के रहते भी देवनगर के सपने को सच कर दिखाने मे देवा जी के अडिग विश्वास का उल्लेख करते रहे। उन्होंने मुझसे वचन ले लिया कि मेरे-जैसा 'समझदार' आदमी कम-से-कम उन कठिनाइयों को बढ़ायेगा नही।

ज्ञानी जी सन्तुष्ट होकर चले गये तो मै लैम्प बुझाकर चारपाई पर लेट गया।

लेट गया, लेकिन सो नही सका। लेटते ही ज्ञानी जी के साथ अपनी सारी बातचीत फिर से मेरे कानों मे गूँज गयी और मुझे लगा कि ये लोग ठीक स्थिति से देवा जी को सदा अपरिचित रखते है। देवनगर के जिस विराट सपने के शिखर पर वे बैठे है, उन्हे मालूम नही कि उसकी नीव उनके अनजाने ही नीचे से खिसकी जा रही है। उन्हे मालूम नही कि उनकी नाक के नीचे, उनके प्रिय नगर मे नफरत और विद्वेष का बाजार गर्म है और उन्होंने जो सिद्धान्त बनाये है, वे उनके सामने ही तोड़े जा रहे है। उन्हे मालूम नही कि उनकी अपनी लडकी पिजरे मे बन्द चिड़िया-सरीखी तड़पती है। वाणी की चिट्ठी के शब्द बार-बार मेरी आँखों के सामने घूमने लगे। डाइनिग हाल मे आते-आते अभी कुछ घटे पहले उसने कहा था—"चार दिन हो गये है, मै आपसे दो बात करने को तरस रही हूँ।......"

और मै उछलकर चारपाई से उठ बैठा......

......नही, यह नही होगा, देवा जी को सब-कुछ बताना होगा। बताना होगा कि उनका देवनगर राक्षस-नगर बन रहा है,

उनकी अपनी लड़की उन राक्षसों के चगुल मे फँसकर क्षण-क्षण घुटी जा रही है.... न बताना कायरता होगी, बददयानती होगी .... उद्घाटनोत्सव ?... वे बड़े-बड़े भाषण देंगे और उनकी अपनी लड़की मन मे उनपर हँसेगी ! इससे बडी विडम्बना और क्या होगी ? इस विडम्बना से उन्हे बचाना होगा ! ...और मैंने उठकर लैम्प जलाया, लोई ओढी, मेज पर जा बैठा और कागज-कलम उठाकर सर्र-सर्र लिखने लगा।

"आदरणीय देवा जी,

आधी रात के सन्नाटे मे अन्तर का गला घोंट देने वाले आवेग से विवश होकर मैं चन्द पंक्तियाँ आपको लिखने जा रहा हूँ। मैं जानता हूँ, इन्हे पढकर आपको दुःख होगा। ज्ञानी जी ने मुझे यह सब अभी लिखने से रोका है। लेकिन मैं समझता हूँ कि यह सब न लिखना आपके और अपने साथ धोखा करना है। मैंने बहुत सोचा है—इतना कि मेरी रात की नींद हराम हो गयी है और मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि स्थिति जैसी भी है, उसमे एक दिन भी और यहाँ रहना मेरे लिए असम्भव है। मुझे तत्काल अपना त्यागपत्र दे देना चाहिए और आपसे प्रार्थना करनी चाहिए कि आप मुझे ऐसी स्थिति मे एक दिन भी और यहाँ रहने को विवश न करे।

लेकिन इससे पहले कि मै आपसे आपके आश्वासन के बाद भी छुट्टी माँगूँ, मै इस त्यागपत्र का कारण लिखना चाहूँगा। ज्ञानी जी कहते है—'इससे आपको दुःख होगा।' मै जानता हूँ, लेकिन सत्य कटु है और यह कटु सत्य मुझे आपके सामने रखना है। इसलिए कि मै इसे अपना एक कर्त्तव्य समझता हूँ।"

उठा दी गयी थी। सीमेण्ट के चमचमाते फ़र्श पर चादरों की पाँतें बिछी थी और अतिथियों को बरातियों की तरह भोजन कराया जा रहा था। मै न किसी टोली मे शामिल हुआ, न किसी अतिथि के साथ बातों मे लगा। यदि किसी ने कुछ पूछा भी तो मैने न केवल बडे मीठे देवनगरिया-ढग से उसे टाल दिया, बल्कि उसे किसी-न-किसी दूसरे कर्मचारी की ओर भेज दिया और स्वय तनिक हटकर देवा जी की गति-विधि लेने लगा। कुछ देर बाद वे एक धनी-मानी लहीम-शहीम सरदार के साथ बाते करते हुए हाल मे पहुँचे। मै भी उसी पाँत मे जा बैठा और जल्दी-जल्दी खाने से निबट कर, बाहर आ गया और उनके बाहर निकलने की प्रतीक्षा करने लगा।

देवा जी गिना-मिथा भोजन करते थे। भोजन जीने के लिए है और जीना ऊँचे कामों के लिए, इसमे उनका विश्वास था। पर उनके साथ देवता बनने की इच्छा से बैठने वाले सरदार जी शायद जीना खाने के लिए ही समझते थे। देवा जी शिष्टाचारवश उनका साथ निबाह रहे थे और जब उनके मित्र स्वादिष्ट खाने पर हाथ साफ कर रहे थे, वे उन्हे अपने जीवन के मनोरजक किस्से सुना रहे थे और खाने के नाम पर कभी रोटी का जरा-सा टुकडा कुतर लेते थे, कभी तरकारी चम्मच की नोक पर रखकर मुँह मे डाल लेते थे।

उनकी प्रतीक्षा मे खड़े-खड़े मै लगभग उकता गया। कुछ देर बाद दरवाजे मे जाकर उन सरदार जी को खाने पर हाथ साफ करते देख आता और फिर बाहर आकर प्रतीक्षा करने लगता। आखिर लगा जैसे एक युग के बाद वे अपने साथी के साथ इस बात पर बहस करते हुए हाल के दरवाजे मे नमूदार हुए कि वे अपने मेहमान की थाली उठाये, अथवा मेहमान उनकी। कुछ देर की तकल्लुफभरी

छीना-झपटी के बाद आखिर दोनों अपनी-अपनी थालियाँ लेकर हमाम की ओर बढे।

वास्तव में देवा जी और उनके सैनिकों का यह पुराना तरीका था। बाहर से आने वालों को खाना खाने के बाद, अपनी थाली उठाकर नल पर ले जाना बुरा न लगे, इस खयाल से वे सदा उनकी थाली उठाकर चल देते थे। समझदार मेहमान अपनी थाली ले लेते थे और यदि कोई एक बार न समझता तो दूसरी बार समझ जाता। हाथ धोकर देवा जी अपने साथियों के साथ पूर्ववत बातें करते चले। तभी मैंने बढकर लिफाफा उनके हाथ मे दे दिया। ऊपर लिखे दो शब्द उन्होंने पढे, उसे जेब मे रखते हुए सिर हिलाया कि 'अच्छा' और अपनी बात का तार जहाँ से उन्होंने छोडा था, वही से पकड़ लिया।

दूर घिरे तूफान की गध पाकर जैसे कोई नन्हा-सा पक्षी उसके पहले झोंके को झेलने के लिए अपने घोंसले की निस्तब्धता मे उत्सुक, उत्कठित तना बैठा हो, वैसे ही मै अपने कमरे की उस नीरवता मे कुर्सी पर तना बैठा था। दो बजने को थे। देवनगर की चहल-पहल और शोर भी कुछ देर को थम गया था। लोग अपने विश्रामस्थलो मे गप लगा रहे थे या देवमडल के वर्तमान और भविष्य पर विचार-विनिमय कर रहे थे या देवनगरियो के प्रवचन सुन रहे थे—जो प्रायः देवा जी के प्रवचनों की कार्बन-कापी होते थे—या सरगोशियों मे देवनगर अथवा देवनगरियों की आलोचना कर रहे थे या फिर केवल सुस्ता रहे थे। मै प्रायः दोपहर को एक-आध घण्टा सोता था, पर सोने का तो दूर, लेटने तक का ध्यान मुझे नही आया। कुर्सी पर बैठा मै प्रकट मे देवा जी के लेख का अनुवाद करने की कोशिश करता

रहा, किन्तु आँखे मेरी बार-बार खिड़की की ओर उठ जाती थी और कान दरवाजे की ओर लग जाते थे। देवा जी—जैसा कि मै इस बीच मे उन्हे जान गया था—मुझे पूरा विश्वास था कि उस पत्र को पढेंगे। पढ़ेगे तो जरूर आयँगे। उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी, यह भी मै जानता था और वही प्रत्यक्ष देखने की उत्सुकता मुझे थी।

देर तक बैठे-बैठे अचानक मुझे खयाल आया कि मैने उन्हे तत्काल छुट्टी देने के लिए कहा है, यदि उन्होंने मेरा त्यागपत्र स्वीकार कर लिया? ......और मै कुर्सी से उठा ..'मुझे अपना सामान तैयार कर लेना चाहिए'... लगभग खदबदाते हुए मै बड़ी तेजी से सामान समेटने लगा। जाने कहाँ से मुझमे इतनी स्फूर्ति आ गयी। अपनी किताबे-कागज मैने समेटे। देवनगर की पुस्तके-पत्रिकाएँ अलग की। कपड़े तह कर ट्रंक मे रखे। रात चाहे मुझे गोरेशाह मे बितानी पडे, पर मै आज यहाँ से चला जाऊँगा, बार-बार यही प्रण मै मन-ही-मन करता रहा।

मै अपना बिस्तर बाँध रहा था, जब दरवाजे पर टिक-टिक हुई। मै तैयारी मे इतना निमग्न था कि बाहर देखना अथवा दरवाजे की ओर ध्यान देना एक दम भूल गया था। टिक-टिक फिर हुई। "आ जाइए," बिस्तर बाँधते हुए मैने कहा।

दरवाजा खुला। देवा जी माथे पर हलके-से तेवर लिये खड़े थे। बिस्तर का एक स्ट्रेप बंधा-का-बंधा रह गया और मै मन्त्रमुग्ध सा बिस्तर पर घुटना टिकाये आधा झुका खडा रहा।

देवा जी मुझे बिस्तर बाँधते देखकर मुस्कराये। उनके माथे के तेवर मिट गये। बढकर उन्होंने मेरी पीठ को थपथपाया और कहा—"आपको न बिस्तर बाँधने की जरूरत है न सामान तैयार करने की,

आप यहाँ रहिए! वाणी आपको या आप वाणी को प्यार करते हैं तो कोई बुरा नहीं करते। अभी वह नाबालिग है। बालिग होने पर वह जिस किसी से भी शादी करना चाहेगी, मुझे आपत्ति न होगी। आप तो सिक्ख हैं, पर वह चाहे तो किसी मुसलमान से शादी कर सकती है।"

"माता जी के रहते वह सिर्फ हिन्दू से शादी करेगी," मैंने कटुता से कहा।

देवा जी के माथे पर फिर हलके से तेवर उभर आये, पर सयत्न उन्हें मुस्कान में बदलकर उन्होंने कहा—"आप हमारे यहाँ आने लगे थे, मैं खुश हुआ था। आप आया कीजिए। कोई आपसे ईर्ष्या करता है तो वह अपना खून जलायेगा, आप क्यों परेशान हों, सीधे रास्ते चलते जाइए और मुझपर विश्वास रखिए। आपको कष्ट न होगा।"

और मेरी पीठ थपथपाते हुए वे चल दिये। दरवाजे पर कुछ याद आ जाने से वे मुड़े—"आपको वाणी का पत्र किसी दूसरे को न दिखाना चाहिए था।" उन्होंने अचानक कहा।

"मुझे जितनी यन्त्रणा दी गयी, उसमें दिमाग कैसे ठीक काम करता?" मैं बोला। तनाव के एकदम हट जाने से मेरा गला एकदम भर आया था और मेरी आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे। देवा जी फिर मुड़ आये। उसी तरह भरे गले और बहते आँसुओं से मैंने कहा—"मैंने वाणी के बदले आपकी ओर अपना कर्तव्य पहले समझा और वह पत्र जला दिया।"

"इसी का मुझे दुःख है," सामने शून्य में देखते हुए देवा जी ने कहा। और फिर निमिष भर रुककर बोले, "खैर आप आया कीजिए। वाणी से पहले की तरह मिला कीजिए।"

"मैं तीरथराम नहीं," मैं बोला, "मैं वाणी का रास्ता भी न काटूँगा। उसे या आपको, माता जी, हरमोहन या तीरथराम—किसी को भी मैं परेशान नहीं करना चाहता, बस मैं शान्ति चाहता हूँ। काम चाहता हूँ। कोई मुझे न छेड़े, न परेशान करे, चुपचाप काम करने दे।"

"आपको कोई परेशान नहीं करेगा," और मेरी पीठ थपथपाते हुए देवा जी चले गये।

न जाने क्या-क्या तर्क-वितर्क मैंने मन में सोच रखे थे। कैसी आलोचना और कैसे क्रोध और क्षोभ से भरे वार्तालाप तैयार कर रखे थे। पर देवा जी ने मुझे एक शब्द भी कहने का अवसर नहीं दिया। चुपचाप आँसू पोंछता मैं बिस्तर पर बैठा रह गया।

ऐसी उम्मीद तो न थी, फिर भी उन के आने से पहले कभी-कभी खयाल आता था कि वे क्रोध करेंगे, मुझ पर या तीरथराम पर गुस्सा होंगे। लेकिन नहीं, अपनी भावनाओं को देवा जी ने पूरी तरह क़ाबू में कर रखा था। शायद वे मेरी ओर आने से पहले अपने प्रत्येक वाक्य और भावभंगिमा तक के बारे में सोचकर चले थे। मेरे कमरे से जाते समय क्रोध को यों दबा सकने की उस क्षमता पर, मन-ही-मन उन्हें सन्तोष हुआ होगा, लेकिन मैं बड़ी देर तक जलता-भुनता बिस्तर पर बैठा रहा।

अच्छा होता यदि वे मेरा त्यागपत्र स्वीकार कर लेते। उस घोर यन्त्रणा से मुझे छुटकारा मिल जाता, वह तनाव ख़त्म हो जाता और मैं एक रिहाई की साँस लेता। देवा जी के चले जाने के बाद, बार-बार मैं सोचने लगा कि चाहे उन्होंने मेरा त्यागपत्र स्वीकार नहीं किया, मुझे लटकता छोड़ दिया, पर मुझे बरबस इस डोरी

को काटकर मुक्त हो जाना चाहिए। उस सारे स्कैण्डल के बाद, मेरा वहाँ रहना कैसे होगा ?

लेकिन दूसरे क्षण में सोचता— स्कैण्डल होने की संभावना कहाँ है ? क्या ज्ञानी जी और देवा जी मेरी और वाणी की बात सबसे कहते फिरेंगे। मेरे तने हुए मस्तक ने न जाने क्या-से-क्या सोच लिया। ज्ञानी जी चाहे कितने भी क्यों न घबराये हों, पर देवा जी ने तो उस सारी घटना को कोई महत्व ही न दिया था। तब क्या इस तरह अचानक चले जाना ठीक होगा ? वाणी से बिना मिले, बिना उसे देखे ?

पर वाणी का ध्यान आते ही हृदय में दूर तक कुछ उतरता चला जाता। उसके प्रति मैंने कैसा अपराध किया है, यह तो मैंने सोचा ही न था। उसने लिखा था, इस चिट्ठी को पढ़ कर फाड़ देना, पर मैंने वह ज्ञानी जी को दिखा दी थी, देवा जी को पढ़ा दी थी। शायद उसका वह पहला प्रेम-पत्र था। उसे जला देने पर जब देवा जी ने खेद प्रकट किया तो पहली बार अपने कृत्य का अनौचित्य मेरे सामने स्पष्टतर होकर आ गया। अन्तर में कहीं गहरे मैं समझता था कि ज्ञानी जी अथवा देवा जी को चिट्ठी दिखा कर, अपने कर्तव्य का पालन करके, मैंने बहुत बड़ा काम किया है। उसके प्रेम को कुचल कर, वह सब लिखकर, जैसे मैंने देवा जी की आँखें खोल दी थी और उस कर्तव्य-पालन के लिए नौकरी का बलिदान करने को तैयार होकर जैसे मैं अपनी आँखों में कहीं ऊँचा उठ गया था। लेकिन देवा-जी की उस हलकी सी डाँट के बाद लगा कि वाणी के उस पत्र को फाड़कर, जलाकर, उसे ज्ञानी जी को दिखाकर, देवा जी को पढ़ा कर, उसके भेद को उन सब पर प्रकट करके मैंने निहायत बुरा काम किया

है। उसके प्रति भी तो मेरा कुछ कर्तव्य था, मुझे चाहिए था कि मैं ज्ञानी जी की बात मान लेता और चुपचाप त्यागपत्र देकर चला जाता। कसक उसके मन में होती। कसक मेरे मन में रहती। पर वह कसक कितनी मीठी होती और उस पीड़ाभरी स्मृति में कितना सुख, कितना पुलक होता।

लेकिन उस कर्तव्य को मैंने कर्तव्य न समझा। अपने छोटे अकिंचन अहं को लेकर मैं तन गया। शायद मेरे हृदय का पात्र बड़ा ही छोटा था, प्रेम के अमृत को अपने में संजो पाने की सामर्थ्य उसमें न थी और अपनी अपात्रता से उसने उसे छलका दिया था... इस सब के बाद मैं वाणी से कैसे आँखें मिला पाऊंगा? लेकिन उस कृत्य के लिए उससे क्षमा माँगे बिना जा भी कैसे सकूँगा?... और अचानक वहीं बिस्तर पर बैठे-बैठे मैं अपनी दृष्टि में आप ही बहुत छोटा हो गया और मेरा शरीर जैसे बिस्तर में चिपक गया और बाहर शाम धीरे-धीरे बढ़ आयी।

प्रैक्टिकल स्कूल में समारोह शुरू हो गया, लेकिन मैं अपने कमरे में, बँधे बिस्तर में जैसे चिपका-सा बैठा रहा।

न जाने मैं कब तक वैसे ही बैठा रहता, यदि ज्ञानी जी अचानक दरवाजा खोल कर अपनी लम्बी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए अन्दर न आ जाते।

"अरे भाई संगीत, तुम यहीं बैठे हो, और वहाँ सब तुम्हारी बाट देख रहे हैं।"

"मेरी?"

"हाँ, तुम्हारी," अपनी लम्बी खिचड़ी दाढ़ी पर फिर प्यार

से हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा, "पिछले दिसम्बर में कुछ लोगों ने तुम्हारा गाना सुना था, उनका अनुरोध है कि तुम जरूर एक गाना आगत सज्जनों को सुनाओ।"

"मेरा मन ठीक नहीं है, मैं गा न सकूंगा। मैं वापस शहर जाने की सोच रहा हूं।"

"देवा जी से बात करने के बाद भी?"

"देवा जी ने आपसे बात की?"

मेरी बगल में हाथ देकर उठाते, मेरी बांह को पकड़े जोर से हंसते और विरामस्वरूप बड़ी बेतकल्लुफी से झटके देकर उसे स्कन्ध-मूल से उखाड़ते हुए ज्ञानी जी बोले, "तुम देवा जी को जरा भी नहीं जानते। उनका सा उदार, विशाल हृदय विरलों के पास है। उन्होंने मुझे सब-कुछ बता दिया है। तुम यदि समारोह में भाग न लोगे तो उन्हें दुःख होगा। स्वयं उन्होंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है।"

मैंने दो-एक बार फिर भी इनकार किया। लेकिन देवा जी का आदेश पालन किये बिना ज्ञानी जी कैसे जाते? उन्हें प्रसन्न करने का कोई भी अवसर कैसे छोड़ते? बिना मुझे लिये, उन्होंने जाने से इनकार कर दिया। "मेरा समारोह में रहना बड़ा ज़रूरी है," वे बोले, "तुम न जाओगे तो मैं भी न जाऊँगा और जो हर्ज होगा, उसका सब दोष तुम्हारे ऊपर होगा।"

हारकर मैं तैयार हो गया। हाथ-मुँह धोकर उनके साथ चल पड़ा। उद्घाटन अभी नहीं हुआ था। जिन बड़े अफसर को उद्घाटन करना था, वे शायद अभी लंच के बाद आराम फ़रमा रहे थे। इस बीच आगत अतिथियों के मनोरंजनार्थ कंसर्ट किस्म की कोई चीज़ हो रही थी।

मैं ज्ञानी जी के साथ एक ओर जाकर खड़ा हो गया। मेरे देखते-देखते प्रैक्टिकल स्कूल की लड़कियों ने एक आर्केस्ट्रा* बजाया। मैंने ध्यान से देखा—वाणी उनमे न थी, हालाँकि वह सदैव अगली दो लड़कियों मे होती थी। फिर एक समवेत गान हुआ। उनमे भी वह न थी, हालाँकि सदा वह पहली पक्ति मे होती थी। फिर एक दो कविताएँ हुई। तीरथराम ने देवनगर के उच्चोद्देश्यों पर एक कविता पढी, जिसमे देवनगर के संचालक की भरपूर प्रशसा थी और जिसके दौरान मे आगत लोगों ने कम और देवनगरियों ने खूब तालियाँ बजायी। फिर अचानक किसी ने मेरा नाम लिया। मैं भूल गया था कि मुझे ज्ञानी जी गाने के लिए ही लाये हैं। मैंने कहना चाहा कि मेरी तबीयत ठीक नही, पर ज्ञानी जी ने मुझे आगे धकेल दिया।

"मै कौन सा गाना गाऊँ? इस अवसर के उपयुक्त कोई भी गाना मेरे पास नही," बिना आगे बढ़े मैंने कहा।

"आप कोई भी गा दीजिए," यह कहते और धकेलते हुए ज्ञानी जी मुझे मच पर ले आये।

"आप गाइए—सुनो-सुनो रे कृपन काला।"

मैंने सामने देखा। रगमच के सामने, नीचे दरी पर बैठे अतिथियों मे दिलजीत बैठा था ओर मेरी ओर देखकर मुस्करा रहा था। निकट ही उसके वाणी भी थी। मुख उसका एकदम सफेद था। लगता था जैसे, हफ्तों से बीमार है। आँखों के गिर्द हलके-से गढ़े थे और उतरा हुआ चेहरा नीचे को झुका था। 'माता जी या हरमोहन

---

* वृन्द-वादन

या देवा जी ने उसे जरूर परेशान किया है,' मैंने मन-ही-मन सोचा। वहीं से उसने उसी तरह सिर झुकाये-झुकाये ऊपर को मेरी ओर देखा। जाने उस निगाह में क्या था जो दूर तक अन्तर में उतरता चला गया. . . .और मैं गाने लगा. . . .

सुनो-सुनो हे कृषन काला
आयी तोरे द्वार
सुनो मेरी पुकार
सुनो-सुनो, हे बाँसुरीवाला।

महगल का वह अमृत घुला कण्ठ, वह सोने का-सा स्वर, वह लोच, वह लय—कुछ भी मेरे पास न था, पर न जाने वाणी के सामने रंगमंच पर खड़े कैसी तन्मयता आ गयी कि अपनी सारी भावना से, भूत-भविष्य-वर्तमान की सुध-बुध भुलाये, मैं गाता रहा। मेरा कण्ठ आर्द्र हो गया, मेरी आवाज काँपने लगी, प्रेम की मारी उस गोपी के हृदय का सारा दर्द मेरी उस पुकार में आ गया। आँखें बन्द किये पूर्णरूप से तन्मय होकर मैं गा रहा था—

जैसी जी चाहे बातें बनायें।
बातें बनाये जैसी जी चाहें।
कहे राधा भी मोहे कलंकिनी. . .

कि हलकी-सी सिसकी मुझे सुनायी दी। देखा रूमाल से आँखें पोंछती और नाक साफ करती वाणी उठी और चुपचाप निकल गयी।

किसी-न-किसी तरह गीत खत्म करके मैं मंच से हटा। मेरी अब कुछ वैसी जरूरत भी न थी। ज्ञानी जी ने भी मुझे परामर्श

दिया कि मैं थक गया हूँ मेरी तबीयत भी ठीक नहीं है, मैं आराम करूँ। और मैं चुपचाप अपने बंगले की ओर बढ़ा। लेकिन सभा-मण्डप के बाहर ही हरमोहन ने मेरा कंधा थाम लिया।

"किधर चले यार ?"

अचानक पहली बार वैसी बेतकल्लुफी से उसने मुझे पुकारा। मेरे रुकने पर मेरी गर्दन में बिल्कुल जिगरी दोस्तों की तरह हाथ डाले वह मुझे स्कूल के पिछवाड़े ले गया।

"मुझे तुम्हारे जाने की इच्छा का पता चला है," उसने कुछ दूर जाकर कहा, "तुम किसी तरह की चिन्ता न करो। मुझे सब मालूम है। मैंने वाणी से पूछा है। तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं। तुम अपना काम करो और मस्त रहो।" कुछ कदम और चलकर वह सहसा बोला—"एक बात पूछूँ ?"

मैंने केवल सिर हिलाया कि पूछो।

"क्या तुम्हें भी वाणी से प्रेम है ?"

यदि उत्तर के लिए हरमोहन मेरे ओठों की ओर देखने के बदले मेरे हृदय पर हाथ रखता तो उसे तत्काल ठीक-ठीक उत्तर मिल जाता। लेकिन वह तो मेरे मुँह की ओर तक रहा था।

"यदि मैं उससे सचमुच प्रेम करता तो क्या मैं उसकी चिट्ठी ज्ञानी जी को देता या उसे तीली दिखा देता ?"

हरमोहन सन्तुष्ट हो गया। हालाँकि वह सुबह मुझसे यही प्रश्न पूछता तो मैं कभी यह दलील न दे सकता। यह तो देवा जी ही ने मुझे सुझा दी थी और मन-ही-मन मैं इस पर खुश हुआ। मैंने रद्दा जमाते हुए आगे कहा—"सवाल यह नहीं कि मैं वाणी से प्रेम करता हूँ या नहीं ? अपने मन में तो कोई सम्राज्ञी से प्रेम

कर सकता है। सवाल यह है कि मेरा व्यवहार उसके या देवसेना के प्रति आपत्तिजनक तो नहीं!"

"हाँ, हाँ, सो तो है," हरमोहन ने कहा, "तुम जरा भी चिन्ता न करो! अपने काम से काम रखो और मस्त रहो।"

और उसने मुड़कर सरदार पालासिंह आर्टिस्ट द्वारा तैयार किये हुए गेट के पास मुझे छोड़ दिया।

रूमाल से सिसकी को दबाती और आँखें पोंछती वाणी मेरे गाने की पहुँच के बाहर जो गयी तो मुझे लगा कि फिर नहीं लौटी। उसकी उन आँखों में झाँकना फिर मुझे नसीब न हुआ, उसकी वह दूर जाती पीठ ही सदा मुझे दिखायी दी।

उद्घाटनोत्सव के दूसरे दिन ही माता जी उसे और मधु को स्कूल के होस्टल में ले गयी। वह होस्टल में रहने वाले दूसरे बच्चों के साथ ही खाना खाती, उनके साथ ही सोती और खेलती। दूर से उसकी झलक मिलना भी कठिन हो गया। स्कूल का अहाता बड़ा खुला था, अहाते के गिर्द चहारदीवारी थी। उसी में बच्चे खेलते थे। कभी जब वे प्रातः सैर को जाते या शाम को हॉकी खेलते तो वाणी भी चहार-दीवारी के बाहर निकलती, पर वह कोठियों की ओर न आती। वहीं ग्राउण्ड के परे, अपनी किसी सहेली के साथ बातें करती हुई टहला करती!

तब मुझे पहली बार महसूस हुआ कि मेरा क्या कुछ खो गया है! दोपहर और शाम को डाइनिंगहाल की वह गहमागहमी और शोर, दिल के सूनेपन को और भी वीरान कर देता। आँखे बार-बार पहली मेजों की ओर उठ जाती, असफल और नाकाम लौटती और खिड़कियों, दरवाजों और उनके बाहर देवनगर की रविशों पर

बेकरार भटकती। दमकती सुबहें आँखों में चुभने लगती और गर्म शामें अपने बोझ से सीने को ऐसे दबाती कि जी घुटने लगता।

उस दिन का गया दिलजीत पन्द्रह दिन बाद फिर आया। तब वाणी भी उस कैदखाने की चहारदीवारी से बाहर निकली। शाम के वक्त कोठियों के बाहर सड़क पर अपने भाई के साथ-साथ आती हुई वह मुझे मिल गयी। दिलजीत ने 'नमस्कार' किया। वह रुका, लेकिन वाणी बढ़ती गयी और कुछ दूर पर हमारी ओर पीठ किये जा खड़ी हुई।. ....मैं फिर सैर नहीं कर सका, चुपचाप अपने कमरे में लौट आया। दूसरे दिन मैंने देवा जी से विनय की कि किचन के परे तीन-तीन कमरों की जो छोटी-छोटी नयी कोठियाँ बन रही है, उनमें से मुझे एक दे दें।

अब तक कमरे का किराया मुझ से न लिया जाता था। जब मैंने वह छोटी-सी कोठी देने के लिए कहा तब मुझसे कहा गया कि मुझे उसका आठ रुपया किराया देना होगा। बाहर के लोग देवनगर मे कोठियाँ बनवा रहे है, उन्हें उनके रुपये का कम-से-कम ब्याज ज़रूर मिल जाय, यह जिम्मेदारी देवसेना की थी और देवा जी की योजना थी कि स्कूल के अध्यापक आदि सब नयी कोठियों में रहें। ज्यों-ज्यों नयी कोठियाँ बनती जायें, देवनगर की सरगर्मिया बढ़ा दी जायें ताकि उन कोठियों मे लगा रुपया डूब न जाय।

आठ रुपया देना मैंने स्वीकार कर लिया और दूर उस अकेली कोठी में उठ गया। पहले कभी-कभी ज्ञानी जी आ जाते थे, लेकिन उतनी दूर वे क्या आते? मैं एकदम अकेला पड़ गया। खूब काम करता और खूब सोचता। साँझ को सैर करते-करते कभी वाणी की एक-आध झलक मिल जाती, लेकिन दिनों उसकी सूरत दिखायी न

देती। उसका चाचल्य न जाने कहाँ चला गया ? न जाने उन चन्द दिनों में वह कितनी बड़ी और गम्भीर हो गयी ? बच्चों को सैर के लिए ले जाते समय कभी नहर के रास्ते मे वह दिखायी पड जाती—सूना-सूना गम्भीर चेहरा, गहरी उदास आँखे। वह मेरी ओर न देखती। मुह फेर लेती और उसके बाद दिनों तक देवनगर का वह रसा-बसा वीराना मुझे काट खाने को दौडा करता।

पहले कभी मे नन्दलाल के यहाँ चला जाता। लेकिन उस घटना के बाद न जाने कैसा सकोच मेरे मन मे आ बैठा कि मैंने एकदम वहाँ जाना छोड दिया। जाने क्यों मुझे विश्वास हो गया कि मै वहाँ जाऊँगा तो सावित्री मुझसे त्यागपत्र की बात पूछेगी। उसकी स्नेहभरी जिज्ञासा को किसी झूठ से शान्त करना मेरे बस मे न होगा और सच्ची बात कहना वाणी के राज को और फैलाना होगा। वह पहले ही कितनी चुप, कितनी उदास, कितनी गम्भीर हो गयी थी। न जाने मुझ पर उसे कितना क्रोध था। एक बार भी तो उन बड़ी-बडी आँखों से उसने मेरी ओर न देखा था। गर्मी बढ गयी थी। चाँद धीरे-धीरे सुलगता हुआ अपनी बेचैन आँखे खोले उस वीराने को मुटर-मुटर तका करता और मैं अपनी उनीदी आँखों मे शत-शत प्रश्न लिये हुए उन सुनसान रविशों पर घूमा करता। कभी-कभी तीरथराम मुझे मिल जाता, पर हम मे दुआ-सलाम तक का आदान-प्रदान न होता। वह अपने रास्ते चला जाता और मै अपने।

मैने गाना तक छोड दिया। लगा कि गाना ओछापन है और मेरे अह को यों ओछा होना स्वीकार न था। अपने हृदय की टीस को हृदय मे दबाये, अपने एकाकीपन को जैसे चादर-सा अपने ऊपर ओढे, मै उस सूनी कोठी मे जा बैठा।

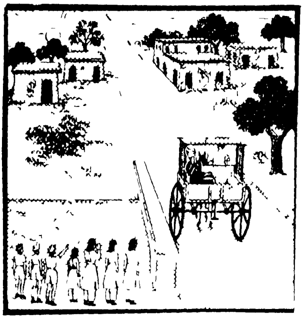

उद्घाटनोत्सव का दिखावा समाप्त हो जाने के बाद रामा थापा के बच्चे हीरा और नबी का अस्तित्व माता जी को प्रैक्टिकल स्कूल के मक्खन में बाल सरीखा खटकने लगा। प्रैक्टिकल स्कूल में दाखिल होने वाले बच्चे उच्च-मध्य-वर्ग से सम्बन्ध रखते थे— डाक्टरों, अफ़सरों, ठेकेदारों और व्यापारियों के बच्चे थे— चुस्त, चाक-चौबन्द, साफ़-सुथरे और लाडोंपले! अधिकांश उनमें बिगड़े हुए थे। वे दोनों ग़रीब बच्चे उनसे पिट जाते, अपमानित होते और माता जी दूसरे बच्चों को समझाने के बदले उन्हीं पर खीझती और निरन्तर देवा जी से अनुरोध करती कि वे हीरा को स्कूल से हटा दें। जब देवा जी किसी तरह तैयार न हुए, तब माता जी

ने उन्हे उन्हीकी भाषा मे कहा कि बच्चा हीन-भाव मे जीवन भर दबा रहेगा, उसका व्यक्तित्व उभर न पायगा, आप स्कूल के एक टीचर को उसे अलग से पढाने के लिए चाहे लगा दे, पर उसे स्कूल में न रखे।

देवा जी माता जी के इस निरन्तर कोंचने मे परेशान हो गये थे। स्कूल से वे जो चाहते थे, उन्हे मिल गया था, काफी बच्चे आ गये थे और उनकी शिक्षा-दीक्षा उनकी आँखों के सामने हो सके, इस विचार से कुछ माता-पिताओं ने वहाँ प्लाट भी ले लिये थे और छोटी-बड़ी कोठियाँ दिन-रात बन रही थी। देवा जी का दिमाग अब ऐसी स्कीमों मे लगा हुआ था, जिनसे वे उस वीराने मे रहने वालों के लिए रोजगार जुटा सके। माता जी ने उस बच्चे के लिए अलग से टच्यूशन का परामर्श दिया तो देवा जी प्रसन्न हुए और उन्होंने रामा थापा को बुलाकर बडे प्यार से समझा दिया कि वे हीरा की उन्नति से प्रसन्न है, स्कूल मे टीचर व्यक्तिगत रूप से उस पर ध्यान नही दे सकते और वे चाहते है कि हीरा सब लडकों को पीछे छोड़ जाय औद देव-नगर का नाम रोशन करे। इसलिए उन्होंने यह सोचा है कि एक अध्यापक उसे व्यक्तिगत रूप से घर पर पढाये। "घर पर शायद जगह न हो।" उन्होंने कहा, "मै दोपहर को डयोढी मे उसके पढने का प्रबन्ध कर दूँगा।"

और एक टीचर हीरा को डयोढी मे पढाने लगा। सप्ताह भर वह डयोढी मे पढा, फिर देवा जी ने कहा कि वहाँ उसके पढने से पुस्तकालय मे बैठनेवाले देवसैनिकों को असुविधा होती है और बच्चे की पढाई मे भी खलल पड़ता है और यह कहकर उसे वहाँ से हटा दिया। दो-चार दिन अध्यापक उसे घर पर पढाने जाता रहा, फिर

वह बीमार पड गया और इसके साथ ही हीरा की प्रतिभा के सिलसिले मे देवनगरियों का जोश ठडा हो गया।

इधर गुलाम नबी के बारे मे दबे-दबे यह अफवाह फैली कि उसे चोरी की आदत है। वाणी ने तो कभी ऐसी शिकायत न की थी, पर उद्घाटनोत्सव के बाद ही माता जी ने उसे नबी को पढाने से रोक दिया था। स्नेह के अभाव मे शायद वह भटक गया और आखिर एक दिन वह किताबे लेकर सुबह-सुबह चला आया। पूछने पर पता चला कि माता जी ने उसे स्कूल से निकाल दिया है।

माता जी से मेरा 'नमस्कार' का भी नाता न था कि मै उनसे जाकर पूछता। देवा जी से लेख लेने गया तो मैंने उन से पूछा कि नबी को क्यों स्कूल से निकाल दिया गया है? स्कूल का तो उद्देश्य ही बच्चों को सुधारना है। क्या नबी की इस आदत को सुधारा न जा सकता था?

"उस बच्चे के लिए स्वय मेरे मन मे बडी हमदर्दी है," देवा जी बोले, "मै स्कूल का प्रिंसिपल होता तो उसे कभी स्कूल से न निकालता और सुधार कर सबको दिखा देता। प्यार के अभाव मे बच्चे चोरी करने लगते है। मै निश्चय ही उसकी आदत छुडा देता। लेकिन वर्तमान प्रिंसिपल और माता जी के बस का यह रोग नही और नबी की बुरी आदत का असर दूसरे लडकों पर पडना जरूरी है, इसलिए माता जी ने सिफारिश की है कि उसे घर पर पढाया जाय। मैंने एक टीचर को उसे दो घटे पढ़ाने के लिए कह दिया है।"

"खैर, उसकी कोई वैसी जरूरत नही, दो घटे तो मै भी पढा सकता हूँ।"

और उस दिन से मै नबी को पढ़ाने लगा। दो-तीन दिन बाद हीरा भी आ गया, और मेरी शामों का सूनापन गायब हो गया। वाणी के हॉस्टल चले जाने के बाद जी का गला घोंटती-सी उदासी, हार-बेकार जीने और वीरान मे वीरानतर होने का जो अहसास मन-प्राण पर छाया जा रहा था, वह एकदम हवा हो गया। मै जी-जान से दोनों बच्चों को पढाने लगा। जब वे चले जाते तो मै उन्हीके बारे मे सोचता। शहर जाकर मै बच्चों की शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध मे पुस्तके खरीद लाया और मिशनरियों के-से जोश से उन दोनों बच्चों को पढ़ाने लगा।

लेकिन नबी को सचमुच चोरी की आदत थी। पहले तो मैंने समझा था कि माता जी ने उसे स्कूल से निकालने के खयाल मे उसपर यह अभियोग लगाया है, लेकिन जब नबी पूरे दिन बॅगले पर रहने लगा तो कुछ ही दिनों मे मुझे पता चल गया कि आदत चाहे पहले से हो, चाहे स्नेह के अभाव मे पड गयी हो, पर वह थी उसमे जरूर। मै खाने के लिए कभी चिलगोजे कभी मूँगफली, कभी बादाम और कभी रस्क लाता। नबी उनमे से कुछ उड़ा ले जाता। जिस गरीब बच्चे ने वह सब न देखा हो, खुली चीजे पाने पर उसका मन ललचा जाना स्वाभाविक है, जब तक कि उसे अन्यथा शिक्षा न दी गयी हो। लेकिन माता जी के अभियोग को सुनकर मैंने तय कर लिया था कि यह शिक्षा मै उसे दूँगा, उसकी आदत सुधार दूँगा और पहले ही दिन मे मै सावधान हो गया था।

'देववाणी' में बच्चों की इस आदत के बारे मे स्वयं देवा जी के कई लेख मैंने पढे थे उनकी लायब्रेरी मे लेकर बच्चों के मनोविज्ञान

पर कुछ पुस्तकें भी मैंने देखी थी और मुझे पूरा विश्वास था कि उस बच्चे की आदत सुधर सकती है। सावधानी के तौर पर मैं हर चीज गिन लेता। यदि मैं उस सावधानी से काम न लेता तो मैं नबी को न पकड़ पाता, न उसका सुधार कर पाता, क्योंकि वह बड़ी सफाई से चोरी करता था। इस मामले में वह एकदम कलाकार था।

......एक दिन मैं एक सेब खा रहा था कि देवा जी ने मुझे बुला भेजा। आधा सेब मेज पर ही छोड़कर मैं उनसे मिलने चला गया। वे एक लेख के बारे में मुझे कुछ समझाना चाहते थे, पर ढूंढने पर उन्हें मालूम हुआ कि लेख वे मुझे पहले ही दे चुके हैं। उन्होंने मुझे वह लेख लाने के लिए कहा ताकि वे समझा सकें कि वे क्या चाहते हैं।

मैं उलटे पाँव वापस आया। कोठी पर आकर मैंने लेख उठाया। चलते-चलते मेज पर पड़े सेब पर निगाह गयी, लगा कि जैसे एक ओर कुछ कम है। मैंने तो एकदम बीच से काटा था। पर उसे देखकर लगा जैसे एक ओर से किसी ने जरा सी फाँक काट ली है। लेकिन मैं जल्दी में था, उस ओर ध्यान न दिया। जब मैं लेख समझ कर वापस आया और मेज पर बैठ कर सेब खाने लगा तो मैंने देखा कि वह दोनों ओर से बराबर है। मैंने उसे उठा लिया। वह आधे से कुछ कम था, जबकि मैं आधे से कुछ बड़ा छोड़ गया था। नबी ने दोनों ओर से बड़ी सफाई से बराबर-बराबर टुकड़े काट लिये थे। बादाम और चिलगोजे भी वह एक साथ ज्यादा न चुराता था। कभी चार, कभी छः। उसके सब्र और सताप की मैं दाद देता हूँ। सामने पड़ी चीज को देखकर, चोरी की आदत है तो, इतने संयम से काम लेना बड़ा कठिन है। मैं एक कागज़ पर रोज नोट कर लेता कि आज उसने

इतने बादाम चुराये हैं, आज इतने चिलगोजे, इतने रस्क या इतने मूँगफली के दाने। छः दिन तक मैं यह हिसाब लिखता रहता, सातवें दिन बड़े प्यार से उसे समझाता कि उसे चोरी न करनी चाहिए, चीज दरकार हो तो माँगकर लेनी चाहिए। जब वह कसमें खाता और कहता कि वह कभी चोरी नहीं करता, तो मैं उसे बता देता कि उसने किस दिन क्या चोरी की? नबी की आँखें हैरत से खुल जातीं। मैं उससे कहता—"तुम चोरी करते हो तो मुझे पता चल जाता है, फिर तुम क्यों चोरी करते हो?" और उसे चिलगोजे, बादाम, रस्क या मूँगफली—जो भी उस समय होता—खाने को दे देता।

कुछ दिन नबी चोरी न करता। लेकिन मैं बराबर गिनती करता रहता—और पाँचवें छठे दिन देखता कि फिर चीजें गायब होने लगी हैं। मैं फिर वैसे ही नोट करना शुरू कर देता। इसके साथ ही मैं कोनों-अंतरों में पैसे फेंक रखता और देखता कि किस दिन वे गायब होते हैं, इधर-उधर मिश्री की डलियाँ रख देता और ध्यान रखता कि किस दिन कौन डली उठी और उसकी सभी चोरियाँ मैं सातवें दिन उसे बता देता। इसके साथ ही पढ़ाई के समय मैं उसे ऐसे महान लोगों की बातें सुनाता जो बड़े ही विपन्न परिवारों में जन्म लेकर महान कहलाये। धीरे-धीरे नबी की चोरी की आदत कम होते-होते बिल्कुल मिट गयी। मैं बड़ा खुश हुआ और एक अनिर्वचनीय गर्व की भावना से मेरा सीना भर उठा।

मई का दूसरा हफ्ता जा रहा था। दिन तप उठे थे और वीरानों में बगूले उठने लगे थे। देवनगर में गर्मी गुजारने का यह मेरा पहला

अवसर था। आठ बजे ही धूप ऐसे दमकने लगती कि आँखें खोलना मुश्किल हो जाता। प्रेस और दफ्तर तो नबी ही जाता, लेकिन देवा जी से लेख लेने मुझे ही जाना होता। कई बार जब कातिब या कम्पोजीटर लिखित आदेश न समझते तो उन्हें समझाने के लिए दफ्तर और प्रेस जाना पड़ता। न जाने धूल पड़ गयी या धूप लग गयी कि मेरी आँखें आ गयी। पत्थरचट्टी के हकीम साहब को बुलाया गया, उन्होंने रसौन्त, धनिया, मुश्क-काफूर इत्यादि की पोटली बनाकर पानी में भिगो, आँखों पर टकोर करने को कहा और आदेश दिया कि रात को रुई के फाहों पर मलाई रखकर बाँधूँ। देवनगर की कोठियाँ और उनके कमरे काफी हवादार और रोशन थे। दुखती आँखें, चमकती-दमकती, तपती दोपहरें .....उनमें से किसी कमरे में भी लेटना मुश्किल दिखायी देता। मैं स्नानागार में (क्योंकि वही अपेक्षाकृत ठंडा और अँधेरा था) शीतलपाटी बिछाकर दुपहर भर लेटा रहता और आँखों पर टकोर किया करता।

उस दिन सुबह मेरे गाँव से कुछ मेहमान आ गये। उन्होंने दो छोटी-छोटी कोठियों के लिए जगह ली थी और उन्हें बनवाने के सिलसिले में वे नन्दलाल से ठेके की बात करने आये थे। वे सीधे मेरे यहाँ आये और हैंड-बैग ड्राइंगरूम में रखकर नन्दलाल से मिलने चले गये। मैं दस बजे ही स्नानगृह में शीतलपाटी पर जा लेटता। खाना मेरा नबी ले आता और मैं वहीं स्नानगृह में खाना खाता। उनके साथ मैं नहीं जा सका। खाना खाने के बाद वे आये और मुझसे विदा ले, अपना बैग उठाकर चले गये।

नबी प्रायः मुझे खाना खिलाकर बाहर कमरे में बैठा पढ़ता रहता था। उस दिन वह मेरे पास आ बैठा, मेरी आँखों पर टकोर उसी ने

की। "बाहर खिड़की खुली है," सहसा टकोर करते-करते उसने कहा—"कोई उस रास्ते बाहर से आकर कुछ उठा न ले जाय।"

मैं हँसा। "मैं दरवाजा खुला छोड़कर चला जाता हूँ, कभी एक पैसे की चीज नही गयी, हमारे अन्दर रहते कौन उठा ले जायगा?"

पर वह उठा और खिड़की बन्द कर आया। वह मुझसे कुछ डरता था और मेरे पास कम ही बैठता था, पर खिड़की बन्द करके वह फिर आ बैठा और टकोर करके उसने मेरे पैर भी दबाये और मुझे एक पजाबी देहाती गीत भी सुनाया, यहाँ तक कि मेरी आँखों मे गनोदगी छाने लगी और मैं सो गया। जागा तो नन्दलाल मेरे सिरहाने खड़ा था। शायद उसी ने मुझे जगाया था।

"मैं तुम्हे कभी न जगाता," उसने कहा, "तुम ऐसी गहरी नींद सोये थे, पर बात कुछ वैसी हो गयी है।"

मैं उठकर बैठ गया।

"जसवन्त सिह तुम्हारे गाँव मे आये हुए है न......"

"हाँ, हाँ, मेरे ही यहाँ तो आये थे। मेरी आँखे खराब थी, नही तो मैं उन्हे स्वय लेकर आता,"......मैंने बेसब्री से कहा।

"उन्होंने अपना बैग तुम्हारे यहाँ रखा था, चलते वक्त तुम्हारे यहाँ से बैग लेकर गये तो उन्हे मालूम हुआ कि उसमे से मनी बैग गुम है। पचास रुपये थे उसमे। वे तो बड़े सकोच मे पड़े थे।"

अचानक मुझे नबी का खिड़की लगाना, मेरी आँखों पर अपने आप टकोर करना, मेरे पैर दबाना, मुझे गाना तक सुनाना याद आ गया और मैंने कहा—"नबी ने उठाये होंगे। कहाँ है वह?"

नन्दलाल ने धीरे से कहा, "मुझे खुद उसपर शक हुआ था उसे पकड़-मँगाकर मैंने उसे डाँटा तो उसने मान लिया कि उसने

उठाये थे, पर एक मजदूर न उससे ले लिये। मैंने घंटे भर से सब मज़दूरों को बैठा रखा है, वह कभी किसी का नाम लेता है कभी किसी का। सब कसमें खाते हैं। वह झूठ बोलता है। किसी और ने नहीं उठाये, उसी ने उठाये हैं।"

मैंने कहा—"जरा उसे बुला दीजिए।"

मैं उठकर बाहर बैठक में आया। नबी बाहर बरामदे में ही था, नन्दलाल ने उसे आवाज दी। वह अन्दर आया। चेहरा सूता हुआ था और आँखें उसकी डरी हुई थीं।

"नबी भाई, तुमने बटुआ उठा लिया। वे आदमी हमारे मेहमान हैं, उनकी चीज न उठानी चाहिए थी। लाओ दे दो।"

वह मेरे कदमों पर गिर पड़ा। एक साँस में कई कसमें खा गया। खुदा दी सौह* बाबू जी, रब्ब दी सौह बाबू जी, माँ दी सौह बाबू जी, कुरान मजीद दी सौह बाबू जी मैंने नहीं उठाये।"

वह कसमें खाता गया कि उसने रुपये उठाये हों तो वह खड़ा-खड़ा मर जाय, उसकी माँ मर जाय, उसे साँप सूँघ जाय और मैं चुपचाप आँखों पर हाथ रखे, खिड़की से आने वाली रोशनी की चमक से उन्हें बचाता हुआ उसके मुँह की ओर तकता रहा। फिर मैंने अंग्रेजी में नन्दलाल से कहा कि वह मुझे उससे अकेले में बात करने दे।

नन्दलाल चला गया तो मैंने नबी के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "देखो भाई, मुझे तो पहले से ही पता है कि तुमने आज कुछ

---

* खुदा की सौगंध

उठाया है, मेरी कोई कीमती चीज उठायी है, मेरा ऐसा खयाल था। पर किसी मेहमान का बटुआ उठा लिया है, इसकी कल्पना न थी......"

"बाबू जी, क़सम खाता हूँ, मेरी माँ मर जाय अगर......"

"देखो नबी, क़समें न खाओ, चुपचाप बटुआ ला दो, खुद परेशान होगे, मुझे परेशान करोगे, तुम्हारी बुढ़िया माँ है, वह परेशान होगी, अपने साथ उसे थाने में धक्के खिलवाओगे, तुम्हें शरम न आयेगी?"

क्षण भर मैं चुप रहा। वह भी चुप रहा। उसने और क़सम नहीं खायी, बस फर्श की ओर तकता रह गया।

मैंने उसके कंधे को थपथपाया। "देखो, जब बटुआ इस कमरे में गया है तब या तुमने उठाया है या मैंने। मैं तो तुम जानते हो उनके आने के पहले से अन्दर लेटा हूँ। बटुआ न मिलेगा तो मेरी भी बदनामी होगी। तुम्हारे साथ जो मैंने थोड़ी बहुत नेकी की है उसका यही इनाम तुम दोगे मुझे?"

वह फिर चुप रहा। मैंने फिर कहा, "देखो, तुमने जब-जब चोरी की है, मुझे पता चल गया है, आज भी पता चल गया कि रुपये तुमने चुराये हैं। तुम्हारे मन में सुबह से ही चोर था। रोज खिड़की खुली रहती है, पर तुम्हें कभी उसे बन्द करने की चिन्ता नहीं हुई। तुम मेरे पास भी ऐसे कभी नहीं बैठे। तुम्हारी इन हरकतों को देखकर मुझे शुबह हो गया था कि तुमने जरूर चोरी की है।"

नबी फिर भी चुप रहा।

"तुम तो बड़े छोटे हो। पुलिस बड़े-बड़ों से इकबाल करवा लेती है। ऐसी सज़ा देती है कि आदमी बिलबिला उठता है और

बरसों के लिए बेकार हो जाता है। तुम्हारी माँ तुम्हे इस मुसीबत में देखकर ही मर जायगी।"

नबी चुप रहा और पाँव के अंगूठे से सीमेंट का फर्श कुरेदता रहा।

"देवनगर मे ही नही, तुम्हे कही भी नौकरी न मिलेगी। तुम तो समझदार हो, जानते हो कि तुम्हारे घर का खर्च तुम्हारी पगार से चलता है।"

क्षण भर हम दोनों चुप रहे। फिर मैने उसके कधों को थपथपाया और कहा—

"देखो, मुझे बटुआ दे दो। मै तुमसे वादा करता हूँ, तुम्हे नौकरी से नही निकालूँगा, तुम्हारी माँ से भी नही कहूँगा और चाहे देवनगर वाले कितना भी शोर मचाये तुम्हे अपने पास रखूँगा।"

"मै कल दे दूँगा।" अचानक उसने कहा।

"घर तो तुम गये नही, तुमने यही कही छिपाया है। देखो, बटुआ दे दो। तुम्हे कोई घर न जाने देगा। सीधे यहाँ से हवालात ले जायेंगे— तुम्हारी माँ रो रो कर मर जायगी। मुझे बटुआ दे दोगे तो मै तुम पर जरा भी आँच न आने दूँगा।"

"चलिए!"

"कहाँ?"

"वहाँ खेत मे छिपा रखा है।"

बाहर दुपहरी नाच रही थी। धूप इतनी तेज थी कि आँखे न उठती थी। वीराने मे लहरिए बनते और धूल उड़ती। अच्छी भली आँखों वाले उन्हे ढक कर चलते। मेरी आँखे यों भी आयी हुई थी। मैने एक रुएँदार मोटा तौलिया उठाकर सिर और आँखों को ढक लिया और नबी के पीछे हो लिया।

स्कूल की ग्राउण्ड के पार, बनौली की ओर, खडे गेहूँ के एक पके खेत मे, जो अभी कटा न था, वह मुझे ले गया। वही एक कोने में जरा-सी धरती खोद, बटुआ निकालकर उसे अपनी कमीज के दामन से झाडकर उसने मुझे दे दिया। उसे तौलिये के अन्दर ले जाकर, अपनी आँखे धूप से बचाते हुए, उसे खोलकर मैंने नोट गिने। पाँच-पाँच के दस थे। मैंने सुख की साँस ली और सहसा नबी को बगल मे लेकर स्नेह मे दबा लिया। "घबराओ नही, तुम्हे कोई कुछ न कहेगा!" उसे शाबाशी देते हुए मैंने कहा, "न मै तुम्हे नौकरी से जवाब दूंगा, न तुम्हारी माँ से कहूँगा और न पढाना बन्द करूँगा!"

लेकिन मेरे प्रण की परीक्षा का समय जल्दी ही आ गया—इतनी जल्दी कि मैंने कल्पना भी न की थी।

तीसरे ही दिन दोपहर को हरमोहन पत्थरचट्टी के हकीम साहब के साथ आया।

"दिलजीत को देखने हकीम साहब आये थे, चलते समय मैंने कहा कि सगीत जी को भी देखते चलिए......"

"दिलजीत को क्या हुआ ?"

"कुछ नही, पित्त बढ गयी है न," हकीम साहब बोले, "ठीक हो जायगा जल्दी।" फिर मेरी आँखों के पलक उठाकर उन्होंने कहा कि पहले से आराम है और परामर्श दिया कि मै पोटली की टकोर जारी रखूँ।"

और वे चल दिये।

हरमोहन क्षणभर को रुक गया। "तुमने अभी तक नबी को रख छोड़ा है!" वह बोला।

"क्यों?" मैंने उसकी बात समझने के बावजूद पूछा।

"वह चोर है, तुम्हें फिर चकमा देगा।"

"बच्चा है, ठीक हो जायगा।"

"अरे, भला ये आदतें भी कभी जाती हैं?"

"आप शायद 'देववाणी' नहीं पढ़ते। देवा जी तो सदा इसपर जोर देते हैं कि बच्चों की ये आदतें दूर की जा सकती हैं।"

हरमोहन ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। "माता जी ने कहला भेजा है," उसने कहा, "कि नबी यहाँ नहीं रह सकता!"

इसका 'मैंने' कोई उत्तर नहीं दिया।

"ऐसी जल्दी नहीं, तुम्हारी आँखें ठीक हो जायं, तब उसे जवाब दे देना, लेकिन उसके रहने से तुम्हें ही नहीं, हमें भी डर है।"

उत्तर में मैंने करवट बदली और मुँह दीवार की ओर कर लिया। तभी हकीम जी ने आवाज दी और हरमोहन माता जी के आदेश को सुनाता हुआ चला गया।

दूसरे दिन अभी सुबह मैं स्नानगृह में शीतलपाटी बिछा कर लेटा ही था कि देवा जी आ गये। मैं शीतलपाटी पर बैठ गया।

उन्होंने नबी से कहा कि बाहर बरामदे में जाकर बैठे, कोई उनके सम्बन्ध में पूछे तो उन्हें अन्दर आकर खबर दे।

नबी चला गया तो उन्होंने मेरी आँखों का हाल पूछा। मैंने कहा, "दो एक दिन में ठीक हो जायंगी, पहले से आराम है।"

"आराम है तो ठीक है," वे बोले, "नहीं मैं सोचता था कि पत्थरचट्टी के अस्तपाल में डाक्टर को बुलवायें।"

"जी नही, ख़याल है दो एक दिन मे बिल्कुल ठीक हो जायँगी। हलकी-सी लाली अभी है। आज रात रुई के फाहों पर मलाई रखकर बाँधने का खयाल है। हकीम साहब ने कहा था। पर मै बाँध नही सका।"

"मै हरगोविन्द को कहला देता हूं, शाम को मलाई तुम्हे दे जायगा उससे आँखे भी न रिसेगी और उनमे नमी-सी रहेगी।"

"काम का जरूर कुछ हर्ज हो रहा है," मैने कहा, "लेकिन आँखें ठीक हो जाने पर दिन-रात बैठकर पूरा कर दूँगा।"

"कि फिर आँखे खराब हो जायँ।" देवा जी हँसे, "अरे भाई काम की परवाह न करके अपनी आँखे ठीक करो, काम फिर भी हो जायगा।"

और मेरे कधे को थपथपाते हुए वे उठे। फिर जैसे चलते-चलते उन्हे कुछ याद आ गया हो, उन्होंने पूछा, "मैने सुना है कि तुम्हारे कुछ रुपये चले गये।"

"जी नही, मेरे गाँव से मेहमान आये थे, उनका बटुआ खोगया था।"

"मिल गया न?"

"जी!"

"कितने रुपये थे उसमे?"

"पचास!"

"यहाँ तो कभी चोरी हुई नही, किसने उठाया था।"

मै जानता था कि उन्हे सब मालूम है, फिर भी अनजान बनते हुए मैने कहा, "आपने देववाणी मे ठीक ही लिखा है कि यदि आप अपने रुपये-पैसे सम्हाल कर नही रखते, ट्रंक या आलमारी को चाबी

नहीं लगाते तो नौकरों को चोरी करने की प्रेरणा देते हैं। जसवन्त सिंह जी हैंडबैग के ऊपर ही मनी-बैग रखकर चले गये। नबी को कुछ उतना काम तो रहता नहीं, बैठे-बैठे उसने बैग खोला। ऊपर ही बटुआ पड़ा था। लालच हो आया। लेकिन मैंने समझाया तो उसने बटुआ दे दिया।"

"चच, चच," उन्होंने खेद प्रकट किया और बोले, "देवनगर मे कभी चोरी नहीं हुई। बाहर वाले मेहमान क्या कहते होंगे। तुम्हारी आँखे ठीक हो जायें तो तुम इस बच्चे को जवाब दे देना। मैं इसे कहीं और काम दिलवा दूँगा। घरों में इसका रहना ठीक नहीं।"

और बिना मुझे उत्तर देने का अवसर दिये देवा जी चले गये।

नबी शायद बाहर बरामदे मे न गया था, ड्राइंगरूम ही मे था। उसने देवा जी की बात सुन ली अथवा उसे किसी दूसरे नौकर से पता चल गया कि माता जी इत्यादि उसके खिलाफ हैं और उसे आभास हो गया कि देवा जी उसी को लेकर बात करने आये हैं। उनके जाते ही वह आ गया, घुटनों के बल मेरे पास बैठ गया और उसने धीरे से पूछा।

"दार जी, आप मुझे जवाब दे देंगे।"

देवा जी के जाते ही मैं फिर लेट गया था। क्रोध का कुछ ऐसा ज्वार-सा मन मे उठा और नसें सहसा कुछ ऐसी तन ग[illegible] कि मैं चुपचाप आँखों पर टकोर करने लगा। देवा जी की कथनी और करनी मे क्यों इतना अन्तर है? इसी बात पर मन खीझ रहा था। नबी इतने धीरे से आया कि मैंने उसकी पद-[illegible] नहीं सुनी।

उसकी आवाज सुनकर मैंने करवट बदली, रूमाल से पलक साफ कर आँखें खोली। बच्चे की आँखों मे अजीब-सा सहम था।

जाने वह बाहर क्या-क्या सुनता रहा था। जाने वह कितना डर गया था!

"दार जी मै कभी चोरी न करूँगा। आप मुझे निकालिए नही।"

मन कुछ अजीब-सा भर आया। बायें हाथ से खींच कर मैंने उसे सीने मे लगा लिया और उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा:

"तुम फ़िक्र न करो। जब तक मै यहाँ हूँ, तुम मेरे साथ रहोगे।"

तीसरे दिन मेरी आँखे ठीक हो गयी। और मै खाना खाने डाइनिंग हाल मे गया। नबी ने तो कहा था कि वह खाना वहीं ला देगा, पर मै स्नानगृह मे लेटा-लेटा इतना ऊब गया था कि मैने लगर मे जाकर खाना खाने का फैसला किया। तीसरी पारी मे, उसी चिर-परिचित अन्तिम मेज पर जा बैठा। लू चलने लगी थी, हाल के सब दरवाजे बन्द थे, केवल दो खिड़कियाँ खुली थी तो भी हाल मे काफी रोशनी थी। सीमेंट के चमचमाते नगीनों-जड़े फर्श पर धूल की एक हलकी-सी परत जमी हुई थी, जिसपर आने-जाने वालों के पाँवों के निशान बन-बन जाते थे। किचन का छोकरा पैंटरी को गीले कपड़े से बार-बार पोंछकर चमका देता था, इसलिए हाल के फर्श के मुकाबले में वह बड़ी निखरी-निखरी लग रही थी।

गर्मी के कारण बहुत-से देवसैनिक खाना नौकरों के हाथ अपनी कोठियों में ही मँगा लेते थे, तीसरी पारी मे केवल तीन-चार व्यक्ति ही खाने को आये थे। मै अपने ध्यान मे मग्न नबी के बारे में सोचता खाना खा रहा था कि अचानक छोटे-छोटे लडकों की एक फौज हाल मे घुस आयी। देखकर भी जैसे मैने उन्हें नही देखा।

चुप-चाप खाना खाता रहा और सोचता रहा— आँखें जब ठीक हो गयी है तो नबी का सवाल फिर उठेगा, माता जी जब उसको निकालने पर तुल गयी हैं तो उसे रखना देवनगर मे बैर मोल लेना है, नबी का तो बहाना है, मतलब तो मुझे तंग करने मे है। तीरथराम या हरमोहन ने चोरी की इस घटना के सम्बन्ध मे माता जी के कान भरे होंगे, वे तो पहले ही खार खाये बैठी है, उन्होंने उसे निकालने का नादिरशाही हुक्म दे दिया होगा, जितने दिन नबी मेरे यहाँ रहेगा, वे सीख का कबाब बनी रहेगी। लेकिन चाहे जो हो, चाहे मुझे देवनगर छोड़ना पड़े, मै नबी को कभी न निकालूँगा ......

तभी कुछ लड़कों ने आकर मेरी मेज को घेर लिया।

"चन्दा दीजिए सगीत जी, परसों हमारी कसर्ट होने वाली है। उसमे हम एक नाटक करेगे।"

"मै चन्दा-वन्दा कभी नही देता।" नबी की समस्या मे उलझे और बिना उनकी ओर देखे, बिना उनकी पूरी बात सुने मैंने कहा।

लड़कों ने मुड़कर निराशाभरी आँखों से पीछे को देखा! निरपेक्ष भाव से मेरी निगाहे भी उनके साथ उठी। परे दरवाजे मे वाणी खड़ी थी।

लड़कों ने हाथ के इशारे से बताया कि कुछ नही देते।

वाणी हाल के मध्य आ गयी और मेरी आँख बचाते हुए उसने हाथ के सकेत से कहा कि इनसे फिर कहो!

हालाँकि वाणी अपनी आँख बचा गयी थी, फिर भी जिस आत्मीयता के साथ उसने लड़कों को मुझसे अनुरोध करने के लिए कहा था, उसने मेरे हृदय की गति को तेज़ कर दिया।

मैंने बच्चों से कहा, "मेरे पास इस समय कुछ नहीं। शाम को मेरी कोठी पर आओगे तब मैं दे दूँगा।"

एक लड़का बोला, "कितने देंगे?"

मैंने किंचित मुस्कराकर कहा, "एक!"

"आप बड़े कजूस हैं।"

अभी मुश्किल से लड़के के मुँह से शब्द निकले होंगे कि बढ़कर वाणी ने हलकी-सी चपत उसके मुँह पर लगा दी। "ऐसा नहीं बोलते," उसने दाँतों से कहा और तब उसकी निगाहें मुझसे मिलीं, जैसे कह रही हों—लड़कों की उद्दण्डता के लिए मुझे क्षमा कर दीजिए!

एक दूसरे लड़के ने कहा—"हम पाँच रुपये लेंगे!"

"चलो, चलो!" कहते हुए वाणी उन्हें ले चली। मैंने उसी लड़के से कहा, "शाम को आना, जो भी हो सकेगा दूँगा।"

मेरा खयाल था कि वाणी मुड़कर देखेगी। उसके मुड़ने की आशा ही से मेरा दिल धड़क रहा था, पर सामने किचन के दरवाजे पर तीरथराम नमूदार हुआ और वाणी बिना मुड़े, लड़कों के पीछे-पीछे चली गयी।

साँझ के साये गहरे हो गये थे। दिनभर लू चलती रही थी, लेकिन दिन ढलते ही हवा थम गयी थी। तपिश जो दिन भर हवा के पखों पर उड़ रही थी जैसे अदृश्य घटा-सी सारे वातावरण पर छा गयी थी। लैम्प उठाकर मैं बाहर बरामदे में आया। अभी चिमनी साफ ही कर रहा था कि गहरे दुःख में मधुर स्मृति-सा हवा का एक हलका झोंका आया। पसीने से तर बदन में हलकी सी फुरेरी दौड़

गयी। बत्ता काटकर, चिमनी ठीक से रख, मैं लैम्प उठाकर अन्दर चला ही था कि मैंने सामने के मोड़ पर लड़कों का झुण्ड देखा। वाणी उनके साथ थी। दिल जोर से धड़क उठा। लेकिन शायद यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि धड़क तो वह उसी वक्त से रहा था, जब मैं लंच के बाद लौटा था और मैंने वाणी की आँखों में पुराना-सा कुछ फिर से देखा था और मुझे लगा था कि वह शाम को जरूर आयगी।

मैं रुका नहीं। ड्राइंग रूम में गया। मेज पर लैम्प रखा, फिर दियासलाई लेने के लिए मैं छोटे कमरे में गया। पहले मैं छोटे कमरे ही से लैम्प जलाकर ड्राइंगरूम में रखता था, पर व्यस्त दिखायी देने के प्रयास में वह क्रम मैं भूल गया। फिर मन की गति विचित्र है। वह परेशानी में भी कई बार बड़ी तेजी से योजनाएँ बना लेता है। दियासलाई की डिबिया शायद इसीलिए मैं छोड़ गया था कि उसे लेने फिर आऊं और जान सकूँ कि वे लड़के मेरी ओर ही आ रहे हैं या कहीं घूमने जा रहे हैं। मेरा खयाल ठीक था। बच्चे इधर ही आ रहे थे। दियासलाई लेकर बिना उधर देखे मैं वापस आया। लैम्प जला रहा था, जब बच्चे दनदनाते अन्दर आ गये। मैं चुपचाप लैम्प जलाता रहा। एक-दो तीलियाँ बुझी भी, पर लैम्प जलाकर ही मैंने पीठ फेरी। जान-बूझकर वाणी सबसे पीछे बरामदे में ही रुक गयी थी। जान-बूझकर वह साँझ ढलने के बाद आयी थी। निमिष भर हम एक-दूसरे की ओर देखते रहे, फिर मैं डिबिया वहीं छोटे कमरे में रखने के बहाने चल दिया। दरवाजे में रुककर मैंने कहा—"तुम क्यों आयी हो? मैंने कह दिया था, रुपये मैं पहुँचा देता।"

वाणी का रंग एकदम श्वेत हो गया। वह कोई जवाब न दे सकी। केवल अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मुटर-मुटर मुझे तकती रही। मैं

कन्नी काटकर छोटे कमरे मे गया। यद्यपि उस बच्चे ने पाँच रुपये माँगे थे, पर मैंने पाँच के साथ दो के नोट और मिलाये और वापस आकर वाणी के नहीं, उसी लड़के के हाथ पर रख दिये।

"इनको थैंक्स कहो बलवन्त !" वाणी ने सहसा कहा और लड़का बोला, "थैंक यू !"

बच्चे जैसे आये थे वैसे ही दनदनाते चल दिये।

उनके पीछे क्षणभर रुककर सहसा वाणी ने पूछा, "आप नबी को निकाल रहे है ?"

"तुमसे किसने कहा ?"

"माता जी हरमोहन भरा जी से कह रही थी। नबी कल बडा उदास था।"

"नहीं, मै उसे नही निकाल रहा।"

"हाँ, उसे न निकालिएगा !" और अपनी उन्ही बड़ी-बड़ी गहरी आँखों मे निमिष भर को मुझे डुबाते हुए वह भाग गयी।

वाणी चली गयी, बरामदे मे रुका मै उसे देखता रहा। मोड पर पहुँचकर उसने फिर एकबार मुडकर देखा। इतनी दूर से आँखे तो नही दिखायी दी, पर लगा कि जैसे उस दृष्टि ने, दिखायी न देकर भी, मुझे छू लिया है और उसके स्पर्श ने मन की सारी उदासी और सूनापन हर लिया है।

दिन मे गर्मी के कारण काम कुछ ज्यादा न कर सका था। ख़याल था कि साँझ पड़े कुछ ठडक होने पर कोशिश करूँगा। लेकिन लैम्प के पास जरा भी बैठने को मन नही हुआ। लगर मे खाना खाने के बाद, बहुत देर तक वही कोठी के बाहर सडक पर घूमता रहा, फि

अन्दर से चारपाई निकाल, बाहर बिछाकर लेट गया। अँधेरा चारों ओर से बढ आया था, लेकिन आकाश में बेगिनती तारे टिमटिमा रहे थे और बायीं ओर आम और जामुन के पीछे उदय होने वाले कृष्ण पक्ष के चाँद की ज्योति नमित रहकर भी ऊर्ध्वगा वाणी की दृष्टि-सरीखी पेडों के ऊपर से आकाश में उजाला भर रही थी।

साँझ को वाणी से की गयी वे ही दो बातें बीसियों बार कानों में गूँज गयीं। उसकी वे पहले डरी-डरी फिर प्रसन्न और फिर प्रशंसा-भरी निगाहें बार-बार हृदय के तारों को छूती रहीं। सोचता रहा—बार-बार वही एक बात—कि वाणी की प्रत्यक्ष उपेक्षा को उसकी सच्ची उपेक्षा समझने में मैंने कितनी भूल की? यदि वह सचमुच मुझसे नफरत करने लगती तो क्या उसका यों प्रदर्शन करती? क्या वह मुझे देखकर मुँह फेर लेने अथवा वहीं खड़े-खडे अपनी उन निगाहों की एक हल्की सी जुंबिश से, माथे के हलके से तेवर से मेरे प्रति घृणा न प्रकट कर सकती थी? सामने किसी को देखते हुए भी न देखना, दूसरे को इस बात का अहसास दिला देना कि वह एकदम हेय है, इन आँखों का एक अदना करिश्मा है। इसके लिए इतने कदम चलकर सिर या पीठ फेरने की क्या जरूरत थी? और वाणी के उस व्यवहार पर, जिससे मन कटुता से भर गया था, सहसा प्यार हो आया। मेरे उस कृत्य पर उसे कितना क्रोध न आया होगा। वह मुझसे नफरत करती तो बेजा न होता। पर नहीं, वह नफरत न करती थी। उसके मन में मेरे लिए स्नेह था, इसीलिए वह जता देती थी कि मेरी बात से उसे दुःख पहुँचा है और वह मुझ से गुस्से है।

....'मैं नबी को नहीं निकालूँगा'.... 'मैं नबी को हरगिज़ नहीं निकालूँगा'....मैं मन-ही-मन प्रण कर रहा था...'मैं उसे और

भी अच्छी तरह पढ़ाऊँगा। उसे योग्य बनाकर देवनगरियों को दिखा दूँगा कि उनकी धारणा ग़लत थी। देवा जी को बता दूँगा कि जिन लेखों को लिखकर वे अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं, मैं उन्ही पर अमल करना, उन्हें लिखने से जरूरी समझता हूँ। वाणी को जता दूँगा कि यदि उसने मुझपर विश्वास किया है तो मैं उस विश्वास के सर्वथा योग्य हूँ.......'

तभी खयाल आया कि वाणी से मैंने कुछ रूखा व्यवहार किया है। जाने क्यों मन की तमाम शक्तियों से चाहने पर भी मुँह से यही रूखे-सूखे बोल निकले थे। अब मन ममोसने लगा कि वाणी आयी और उससे ढब की दो बातें भी न कर सका.....न जाने मैं कब तक इसी तरह सोचता रहता, लेकिन कृष्ण पक्ष का चौथाई चाँद झाँकने लगा, हवा रमकने लगी पलक भारी हो गये और मैं सो गया।

सुबह नबी आया तो मैंने उससे पूछा, "क्या तुमने वाणी से कुछ कहा था?"

मेरे अकस्मात यह प्रश्न करने पर वह एकदम सहम गया और चुप बना रहा।

मैंने प्रश्न बदला।

"क्या तुम वाणी से मिलते हो?"

वह फिर भी चुप रहा और मुटर-मुटर मेरी ओर तकता रहा।

मैंने दूसरी तरह प्रश्न किया।

"क्या वाणी तुमसे मिलती है?"

"जी!"

"क्या कहती है?"

"जी, कुछ नही, पढने-लिखने के बारे मे पूछा करती है।"

"देखो, तुम नौकरी छोड़ना नही चाहते तो मन लगाकर पढो और अच्छे लड़के बनो और देवनगरियों को, जो तुम्हे चोर समझते है, दिखा दो कि तुम कितने अच्छे हो।"

नबी ने स्वीकृति मे सिर हिलाया कि हाँ, वह ऐसा ही करेगा। मैंने बड़े जोश से उसे और हीरा को उस दिन पढाया और जब देवा जी से लेख लेने गया तो एक नयी उत्फुल्लता मेरी नस-नस मे दौड़ रही थी।

देवा जी ने मुझे लेख दे दिया और जब मै चलने लगा तो उन्होंने कहा, "भई, वह हरमोहन ने तुम्हारे लिए नौकर छोकरे का प्रबन्ध कर दिया है।"

"जी, नौकर छोकरे का?"

"वह, नबी को तुमने जवाब दे दिया न?"

"जी नही!"

उन्होंने संकेत किया कि जरा बैठो।

जब मै बैठ गया तो उन्होंने कहा, "देखो भाई, मै समझता हूँ कि तुम्हे यह बात बुरी लगती है, सच पूछो तो मै स्वयं इसे अच्छा नही समझता, लेकिन बड़ी बुराई के मुकाबले मे इस छोटी बुराई को चुन लेना बहतर है।"

चुप रहना मेरे लिए मुश्किल हो गया। मैंने कहा, "यह छोटी बुराई है, यह कैसे मान लिया जाय?"

देवा जी के माथे पर तेवर बन गये, पर दूसरे क्षण एक चौड़ी मुस्कान का हैगा उनपर फेरते हुए उन्होंने कहा "यह बात भाई

रिलेटिव—सापेक्ष है। तुम्हारे लिए यह बड़ी बुराई हो सकती है, क्योंकि इसके मुकाबले मे बड़ी बुराई तुम्हें दिखायी नही देती, पर मेरे सामने अपने साथियों के क्रोध और असहयोग के रूप मे वह दिखायी देती है। देवसैनिकों का बहुमत चाहता है कि उस लड़के को देवनगर मे न रहने दिया जाय। अब यदि मै जोर देता हूँ तो वे सबके-सब यह समझेंगे कि मै उनकी एक जरा-सी इच्छा भी पूरी नही करता। वे कहेंगे कुछ नही, पर उनका काम करने का, सहयोग देने का उत्साह जाता रहेगा और उनके सहयोग के बिना मेरे लिए देवनगर का सपना सिर्फ सपना बनकर रह जायगा।"

मै चिढ गया, बोला, "देवनगर आप क्यों बनाना चाहते है? क्या ईटे, गारा और चूना ही देवनगर है? उसकी नीव और निर्माण मे क्या कोई सिद्धान्त नही। उन सिद्धान्तों का बलिदान करके ईटे, गारे और चूने के चन्द मकान खड़े कर लेना आप बड़ी सफलता समझते होंगे, मै इसे घोर असफलता मानता हूँ। यह बड़ी चीज के लिए छोटी चीज की कुरबानी नही, बल्कि एक बड़ी ही छोटी चीज के लिए एक बहुत ही बडी चीज की क़ुरबानी है।"

देवा जी के माथे पर चिढचिढाहट की इतनी बड़ी लकीरे बन गयी कि मुस्कान और सयम का हैगा भी उन्हे न मिटा सका। किसी तरह अपने आप पर क़ाबू रखते हुए उन्होंने कहा, "मै तो भाई तुम्हारे ही लिए कहता हूँ। सब लोगो को नाराज करके, सब की छाती पर मूँग दलते हुए, सब की मरजी के खिलाफ उस चोर छोकरे को रख कर......."

"वह चोर नही," मैने देवा जी की बात काटते हुए क्रोध और जोश से कहा, "और फिर यह आप भी जानते है और मै भी जानता

हूँ कि गहना-पत्ता या नकद रुपया यहाँ कोई नहीं रखता और जितना लोग रखते हैं उतना अगर किसी का चला जाय तो मैं भर दूँगा, आप मेरे वेतन से काट लीजिएगा।"

देवा जी चुप रहे, केवल मौनरूप से मेरी ओर देखते रहे।

"नबी मेरा रिश्तेदार नहीं," मैंने उसी जोश से कहा, "लेकिन मैं उसे वचन दे चुका हूँ कि मैं उसे नहीं निकालूँगा। उसकी बुढ़िया माँ है, नबी जो कमाता है उसी से उनका गुजारा चलता है। उसे निकाल दूँगा तो दोनों भूखों मर जायेंगे।"

देवा जी हँसे—"तुम बड़े भोले हो, भाई। नबी ही अकेला यहाँ भूखा नहीं, आसपास के गाँवों में ऐसे बीसियों बच्चे और उनके माँ-बाप भूख के शिकार हो रहे हैं। देवनगर द्वारा हम उसी भूख की बीमारी का इलाज करने की सोच रहे हैं। देवनगर बन गया तो यहाँ बीसियों उद्योग-धंधे खुलेंगे और यहाँ की भूख-गरीबी मिटेगी।"

मैं तत्काल कोई उत्तर न दे सका। क्षण भर रुककर मैंने कहा, "बात भूख ही की नहीं, आपने देववाणी में लगातार बच्चों के मनोविज्ञान पर लिखा है कि बच्चे क्यों चोरी करते हैं, नौकर क्यों चोरी करते हैं और कैसे उनकी बुरी आदतें हटायी जा सकती हैं। मैं आप ही के कहे पर अमल कर के देखना चाहता हूँ। मेरे विचार से नबी चोर नहीं। मैं एक कोशिश और कर देखना चाहता हूँ। यदि उसमें मुझे कुछ हानि भी उठानी पड़ी तो मैं तैयार हूँ।"

देवा जी ने कुछ नहीं कहा, "तुम्हारी इच्छा!" वे विवश भाव से बोले, "मैंने तुम्हारे ही लाभ के लिए कहा था, अपने साथियों को नाराज करके तुम शान्ति नहीं पा सकते।"

और माथे पर जैसे चिन्तन की कई लकीरें खींच, वे अपने काम में रत हो गये।

आकर लेखों का अनुवाद करना मेरे लिए कठिन हो गया। हो सकता है समझौता जिन्दगी की शर्त हो, लेकिन आदमी के पास कुछ तो ऐसा हो, जहाँ वह किसी से समझौता न करे! घास अपनी कोमलता को तूफान के नीचे बिछा देती है और उसके गुजर जाने के बाद फिर उठ खड़ी होती है, जिन्दा रहती है। लेकिन बरगद झुकता नहीं चाहे टूट जाता है। तो क्या घास बरगद से अच्छी है? थके हारे मुसाफिरों को जब कोई छाया देना और आराम पहुँचाना चाहेगा, किसी अपने प्रिय सिद्धान्त पर आरूढ़ रहना चाहेगा, तब उसे बरगद ही बनना पड़ेगा, भले ही तूफान के मुकाबले में उसे उखड़कर गिर जाना पड़े। नहीं, मसलहतों* के पाँव उसकी सूरत बिगाड़ देंगे। जिन्दा वह रहेगा, लेकिन वह जिन्दगी मौत ही का दूसरा नाम होगी।

समझौता करते हुए देवा जी अपने आदर्श की ऊँचाई से जहाँ आ पहुँचे थे, उसे देखकर मुझे घोर ग्लानि हुई। कहाँ देववाणी के वे आदर्श, वह न्याय-प्रिय बालक की कहानी, वह अपने अधिकार के लिए लड़ मरने वाले क्लर्क का किस्सा और कहाँ हर सिद्धान्त को सुविधा के लिए छोड़ देना! मैं झुँझलाकर उठ बैठा। लगा कि इस आजाद, स्वच्छन्द फिजा में मेरा दम घुट रहा है। टहलता-टहलता मैं मधवार साहब की ओर गया। वे अभी प्रैक्टिकल स्कूल ही में थे। मैं स्कूल की ओर चल पड़ा।

---

* **संकट काल की आवश्यकताओं**

बरामदे में वाणी एक विंग से दूसरे की ओर जाती दिखायी दी। जाते-जाते निमिष भर को रुककर, उसने मेरी ओर गहरी प्यार-भरी दृष्टि से देखा—उसका सारा आक्रोश मिट चुका था, मुझे न सफ़ाई देने की जरूरत पड़ी, न क्षमा माँगने की। शायद नबी के मामले में मेरे हठ की बात उस तक पहुँच गयी थी और उसी ने मेरी खोयी जगह उसकी आँखों में पुनः बना दी थी। फिर जैसे उसकी शल्वार का पाइंचा उसके टखने में फँस गया, वह उसे अलग करने झुकी। वहीं से झुके-झुके मुड़कर उसने फिर अपनी उन निगाहों से मुझे शराबोर कर दिया। और फिर पाइंचे को टखनों से अलग करती हुई, वह दूसरी ओर मुड़ गयी और जैसे अपने सिद्धान्त पर अडिग रहने के मेरे निश्चय को और भी दृढ बनाती गयी।

मधवार साहब किसी महान तपस्वी की तरह सीधे अपनी कुर्सी पर बैठे फाइलें देखने में निरत थे। मेरे क़दमों की चाप से उनकी समाधि भंग हुई। किसी दूसरे संसार से जैसे वे मुस्कराये और आँखों की हलकी सी जुम्बिश से उन्होंने पूछा कि कहिए कैसे आये और आंखों से ही संकेत किया कि बैठिए।

मैं कुर्सी पर बैठ गया और मैंने नबी की बात चलायी। माताजी, हरमोहन और देवा जी के आदेश का उल्लेख किया और अपनी स्थिति और भावनाओं को उनके सामने रखते हुए कहा, "यह एक मामूली नौकर को हटाने का प्रश्न नहीं, यह अपने वचन और सिद्धान्त को तोड़ने का, आदर्शच्युत होने का प्रश्न है। मैं नबी को कैसे निकाल सकता हूँ?"

"यदि आप देवनगर में रहना चाहते हैं तो उसे निकालना होगा!" उन्होंने जैसे किसी धर्म-ग्रन्थ का सूत्र प्रकाशित किया।

"जब मैं हरजाना देने को तैयार हूँ, किसी की चोरी हो जाय, उसे भरने को तैयार हूँ, तो फिर आप लोगों को क्या शिकायत है?"

मधवार साहब का तनाव कुछ हलका हुआ। शरीर को ज़रा ढीला छोड़ते हुए उन्होंने कहा, "मुझे तो भाई, कोई शिकायत नहीं, मैं तो बल्कि विश्वास रखता हूँ कि वह बच्चा न केवल चोरी की आदत छोड़ सकता है, बल्कि प्रैक्टिकल स्कूल के अधिकांश बच्चों के मुक़ाबले मे योग्य और बुद्धिमान साबित हो सकता है। लेकिन उसके लिए स्नेह और समदृष्टि की ज़रूरत है, जो यहाँ सम्भव नहीं। मैं उसे कभी प्रैक्टिकल स्कूल से निकालने न देता, पर जिस लड़के पर माता जी की कुदृष्टि हो और वह किसी धनाधीश का बच्चा न हो तो उसे यहाँ रखना उसकी आत्मा को कुचल देने के बराबर है, इसीलिए मैंने दोनों बच्चों को यहाँ से चले जाने दिया।"

और मधवार साहब ने बताया कि किस प्रकार प्रैक्टिकल स्कूल के खाने और दिखाने के दाँत अलग-अलग हैं। "देवा जी ने 'देववाणी' मे बड़े तमतराक से घोषणा की है," मधवार साहब बोले, "कि स्कूल मे बच्चों को हर तरह की आजादी है, उनका व्यक्तित्व पूरी स्वच्छन्दता के वातावरण में बन रहा है, पर तथ्य यह है कि वे घर को जो चिट्ठियाँ लिखते हैं, वे सब खोल ली जाती हैं और जिन चिट्ठियों में स्कूल की आलोचना होती है, वे कभी नहीं भेजी जाती। जिस लड़के के असन्तोष का पता चल जाता है, उस पर ख़ास ध्यान दिया जाता है और हर कोशिश से उससे स्कूल के पक्ष में चिट्ठी लिखवाई जाती है।"

"आपके रहते यह सब होता है?"

"मैं न रहूँ तो न जाने और क्या-क्या हो? प्रिन्सिपल पूरा खुशामदी है, ऐसे-वैसे जितने काम हैं, देवा जी सब उसी से कराते हैं।"

"मेरा तो दम घुट जाय धोखा-धड़ी के ऐसे वातावरण में, आप कैसे रहते हैं?"

"मैं गाँधी-आश्रम मे रह आया हूँ, कीचड़ में रहकर भी कमल बने रहना मैं अच्छी तरह जानता हूँ। महात्मा गांधी ने बड़े-बड़े शठो मे देवता-तुल्य काम कराये। जब तक मुझे उम्मीद है कि बुराई को बढने मे रोक रहा हूँ, तब तक हूँ, जब देखूँगा मेरा कोई उपयोग नही, चल दूँगा।"

और उन्होंने बिल्कुल देवा जी की तरह कलम उठाया और अकडकर बैठ गये।

'देवा जी ने मंत्री बनाकर इस व्यक्ति के अहं को सन्तुष्ट कर दिया है और यह समझौतों के लिए अपने-आपको धोखा देने लगा है,' मैंने दिल-ही-दिल मे कहा और 'नमस्कार' कर मैं मधवार साहब के पास मे उठ आया।

नन्दलाल से मिलने के लिए जाने का मन था, पर नही गया। न जाने कैसी वितृष्णा हो गयी कि देवनगरियों की सूरत तक से चिढ होने लगी। किसी से भी मिलने को मन न होता था। दोपहर को खाना खाने भी नही गया, नबी के हाथ मँगा लिया। भूख भी कोई ऐसी ख़ास न थी। दो-चार कौर खाकर उठ गया। कुल्ला कर हाथ-मुँह धो रहा था कि बाहर टिक-टिक हुई। नबी ने दरवाजा खोला। ज्ञानी जी थे।

"अरे, आप इस ठीक दोपहरी में कहाँ?" स्नानगृह से बाहर निकलते हुए मैंने कहा।

'आप आज खाने के लिए नहीं आये। नबी को खाना ले जाते देखकर सोचा कि फिर दुश्मनों की आँखें न आ गयी हों।" और अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए वह किंचित हँसे।

मैंने उनकी हँसी में योग नहीं दिया। "दुश्मनों की आँखें तो खराब नहीं हैं, पर मिजाज जरूर गर्म है!" मैंने उत्तर दिया।

मेरी बाँह को स्कंध-मूल से उखाड़ते हुए ज्ञानी जी ने अपना वही गाँठदार ठहाका लगाया। "आप भी खूब हैं, संगीत भाई!" और वे मुझे साथ ही लेकर चटाई पर बैठ गये। "दुश्मनों का मिज़ाज क्यों गर्म है?" उन्होंने पूछा।

मैंने नबी को दूसरे कमरे में जाकर हीरा के साथ पढ़ने के लिए कहा, ज्ञानी जी को नबी का किस्सा और देवा जी का आदेश सुनाया और अपनी स्थिति समझायी।

"तुम बिल्कुल ठीक कहते हो भाई," ज्ञानी जी ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "पर तुम्हारा यह खयाल गलत है कि देवा-जी ऐसा चाहते हैं। देवा जी तो देवता पुरुष हैं। उनका हृदय बड़ा उदार है, यह तो उनके इर्द-गिर्द कुछ छोटे दिल के लोग हैं, उन्हीके कारण देवा जी यह सब करने को विवश हैं।" और निमिष भर रुक कर उन्होंने कहा, "मैं तुम्हें सलाह दूँगा कि तुम नबी को अभी निकाल दो, मैं उसे फिर नौकर करा दूँगा, इसका मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ।"

"उसे तो मैं हरगिज जवाब नहीं दे सकता।"

"मैं तुम्हारे ही फायदे के लिए कहता हूँ। जब माता जी उसके विरुद्ध हैं तो उसे रखना बुद्धिमानी नहीं। तुम रखोगे तो ये तुम्हें तंग

करेंगे। हरमोहन कह रहा था कि 'देववाणी' के हिन्दी-उर्दू संस्करण बड़ा घाटा दे रहे हैं। तुम अपनी जिद पर कायम रहे तो वे उन्हें बन्द कर देंगे और तुम्हें देवनगर छोड़ना पड़ेगा।"

"देवनगर चाहे मुझे छोड़ना पड़े, पर मैं नबी को जवाब नहीं दे सकता!" मैंने कहा।

"देखो भाई, कोई ऐसा काम न करना चाहिए जिससे विरोधियों के हाथ मजबूत हों। Stoop to Conquer मुहावरा सुना है या नहीं? कभी-कभी जीतने के लिए झुक जाना चाहिए।"

"यह देवा जी की फिलासफी है," मैंने कहा, "मेरी नहीं! मैंने अपनी प्रेरणा उनकी करनी से नहीं ली—प्रायः हर अवसरवादी की करनी वैसी ही होती है— मुझे प्रेरणा उनकी कथनी से मिली है, जिसने मेरी सोयी हुई रूह को जगा दिया है, मुझे अन्तर की आँखें और उन आँखों को सपने दिये हैं?"

ज्ञानी जी निराश हो गये। लेकिन गये नहीं। बड़ी देर तक बैठे मुझे दुनियादारी की बातें समझाते रहे और देवा जी की सफाई देते रहे। मैंने कहा, "देवा जी का कोई दोष नहीं है, यह मैं नहीं मानता। वे भविष्यद्रष्टा हो सकते हैं, शायद हैं भी, पर अपनी कथनी को करनी का जामा पहनाने के लिए जिस दृढ़ता की जरूरत है वह उनमें नहीं। वे एक ढुल-मुल नेता हैं। मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि वे अब क्यों देवसैनिक नहीं बनाते? मैं यदि देवसैनिक होता तो वे या उनके साथी काम को बन्द करके मुझे निकालने की कभी न सोच पाते। तन और मन की निपट गुलामी उनके साथ काम करने की पहली शर्त है। मुझे किसी के नेतृत्व में तन और मन को गुलाम बना देना अस्वीकार नहीं, पर शर्त यही है कि मेरा नेता अपने आदर्शों

से गिरता तो नही। आदर्शहीन नेता की गुलामी मेरे बस की नही। मै नबी को निकालूँगा तो मुझे लगेगा कि मै एक आदर्श-हीन नेता की गुलामी कर रहा हूँ......कि उस गुलामी मे मुझे रोटी मिलती है..... कि मै ऐसा केवल पेट के लिए कर रहा हूँ। 'देववाणी' को पढ़ने के बाद, मै ऐसा नही कर सकता, क्योंकि देवा जी के ही कथनानुसार पेट तो कौवे और गदहे भी भरते है और सुख-सुविधा तो वेश्याओं को भी प्राप्त होती है।"

शाम हुए ज्ञानी जी गये, उनके जाते ही मैने नबी को बुलाया। हीरा जा चुका था। "देखो भाई, ये सारे लोग इस बात पर जोर दे रहे है कि मै तुम्हे निकाल दूँ," मैने बड़े प्यार से उसे समझाया, "पर मैने वचन दिया था इसलिए मैने तुम्हे निकालना मजूर नही किया। मै तुम्हे निकालूँगा नही, लेकिन मैने तय कर लिया है कि मै स्वय निकल जाऊँगा। कल सुबह मै यहाँ से चला जाऊँगा? तुम कल से न आना।"

और मैने जेब मे पाँच रुपये निकाल कर उसे दिये और उसे बगल मे लेकर प्यार करते हुए कहा, "अपनी अम्मा को मेरा सलाम देना और सारी बात समझा देना।"

नबी की आँखे भर आयी। लगभग रोते हुए उसने कहा, "बाऊ जी, आप मुझे साथ ही ले चलिए।"

"अभी तो कुछ पता नही, कहाँ-कहाँ भटकता रहूँ," मैने कहा, "पर यदि कही टिक गया तो लिखूँगा, चले आना।"

और मैने उसकी पीठ थपथपाकर उसे तसल्ली दी और प्यार किया।

बड़ी-बड़ी आँखें

नबी ने अपना बस्ता, किताबें और कापियाँ सम्हाली, दूसरा छोटा-मोटा सामान लिया और मेरे पाँव छूकर वह चल दिया।

"ठहरो, गुम्बद तक मैं भी चलता हूँ!" मैंने कहा, और कोठी मे ताला लगा कर मैं भी उसके साथ हो लिया। चाहता था कि किसी को मेरे जाने की बात मालूम न हो। जब वे अपने त्राध में मुझे नोटिस देने की सोचें तो पायें कि मैं जा चुका हूँ। नबी से कोई ऊल-जलूल सवाल न पूछे, इसलिए मैंने उनके साथ जाना उचित समझा।

साँझ अभी पूरी तरह उतरी न थी, लेकिन हवा में गर्मी कम थी। देवनगर छोड़ने के ख्याल से वे रविशें, वे बाड़ें, वह हाल, वह ड्योढ़ी, वे कोठियाँ, वे आम, जामुन और बरगद के पेड़, वे बनौली के घरों की लकीर—सब एक दम नया-नया लगा। जी हुआ कि देवनगर छोड़ने से पहले एक बार अच्छी तरह घूमकर देख लूँ, उसकी हर रेखा को मन के पट पर उतार लूँ।

नबी को मैंने कोठियों के आगे छोड़ दिया। परे मैदान में स्कूल के बच्चे हॉकी खेल रहे थे। और भी परे शायद वाणी अपनी किसी सहेली के साथ घूम रही थी। कुछ क्षण वहीं खड़ा मैं नबी को चुपचाप सिर झुकाये जाते देखता रहा, फिर मेरी दृष्टि मैदान से परे किसी सहेली के साथ टहलती हुई वाणी पर गयी और दिल की गहराई से एक लम्बी साँस निकल गयी।

देवनगर के वीराने में यदि किसी चीज ने मुझे बाँध रखा था—उसकी सुन्दरता के अतिरिक्त—तो वह था वाणी का स्नेह, नहीं तो

मेरा सपना कब का टूट चुका था। लेकिन अब देवनगर में और रहने और वाणी का स्नेह पाने के लिए जो कीमत चुकानी पड़ती, वह उस स्नेह ही को खत्म कर देती। वाणी के उस स्नेह का तगादा था कि मैं अपने फैसले पर अडिग रहूँ और तत्काल देवगनर छोड़ दूँ।

मैं चुपचाप सड़क पर हो लिया। खयाल आया कि जाऊँ, जरा नहर का एक चक्कर लगा आऊँ।

सड़क एक नम्बर को कोठी के पास नहर की ओर मुड़ती थी। उधर मुड़ने से पहले मैंने एक बार फिर मैदान की ओर निगाह दौड़ायी, सहसा मैं ठिठक गया। वाणी ने नबी को जाते-जाते रोक लिया था और वह उससे बातें कर रही थी। नबी को मैंने और किसी से मिलने न दिया था। और किसी से उसने मेरे जाने की बात न बतायी थी, 'पर वाणी से वह जरूर कह देगा!' और यह सोचते ही मेरा दिल धड़क उठा। मैं मुड़ा, नहर की ओर जाने के बदले पत्थरचट्टी गया। वहाँ एक इक्का तय कर आया, उसे साथ लाकर अपनी कोठी बता दी कि सुबह साढे पाँच बजे वहाँ आ जाय! समझा दिया कि कोठियों के आगे से होकर, ड्योढी की ओर से आने के बदले कोठियों के पीछे से आये। मैं न चाहता था कि कोठियों के आगे सोये हुए देवसैनिक इक्के की खड़खड़ाहट से उठ खड़े हों, मुझे फिर देवा जी का सामना करना पड़े और उनसे औपचारिक बातें कहनी-सुननी पड़ें।

इक्केवाले ने आश्वासन दिया कि वह पांच बजे ही आ जायगा।

"बस मैं मुँह अँधेरे निकल जाना चाहता हूँ," मैंने उसे एक बार फिर ताकीद की।

बड़ी-बड़ी आँखें

इक्केवाला चला गया और मैं अपना सामान समेटने में तल्लीन हो गया।

सुबह जब इक्का गुम्बद के पास से होकर डाकखाने के निकट पहुँच गया तो मैंने सुख की साँस ली। अब किसी देवसैनिक से मिलने की आशा न थी। जब मैं इक्के पर सामान लाद रहा था, गुम्बद के पास बच्चों का झुण्ड देखकर मेरा माथा ठनका था, डरा कि प्रातः के इस धुँधलके में कहीं वाणी बच्चों को लेकर इधर ही तो नहीं आ रही। पर दो-दो की कतार बाँधकर 'लेफ्ट-राइट' करते हुए वे भट्टे की ओर चले गये। उधर ऊसर में से एक पगडण्डी नहर को जाती थी। बच्चे शायद, उधर ही से नहर को जा रहे थे। शायद पूरा चक्कर लगाकर एक नम्बर की कोठी के पास आ निकलेंगे, मैंने मन-ही-मन सोचा और मेरी जान में जान आयी।

इक्का पत्थरचट्टी की ओर बढ़ा तो ठंडी हवा के एक झोंके ने मन का सारा संताप हर लिया। लगा जैसे मुद्दतों के बाद जेल से छूट-कर आजाद फिजा में आया हूँ। सड़क के दोनों ओर कटे हुए खेत थे, जिनमें खलिहान बने हुए थे। किसान तड़के ही अपने काम पर आ जुटे थे। कहीं सूपों की मदद से भूसा अलग किया जा रहा था, कहीं बैलों के खुरों तले दाने अपना जामा उतार रहे थे, कहीं गोल-गोल 'कुप्प' बन रहे थे। छल-कपट, धोखा-धड़ी से आजाद सीधी-साधी जिन्दगी रवां-दवां थी। मैंने सीना फुलाकर लम्बे-लम्बे साँस लिये और सुबह की उस स्वच्छ वायु को अपने सीने में भर लिया।

अपने कमरे की मेज पर मैं देवा जी की किताबों और लेखों के साथ एक चिट्ठी भी उनके नाम छोड़ आया था।

उनमे तैरते स्नेह की याद देवनगर की मधुरतम स्मृतियों मे से है और उस स्नेह को उस नन्ही सी बाला के हृदय मे बनाये रखने की भावना ही से मैं यों अचानक वहाँ से भाग उठा था। यदि उसे पता चलता कि मैंने देवनगर मे बने रहने की खातिर नबी को जवाब देना स्वीकार कर लिया है तो वह मेरे बारे मे क्या सोचती? 'इस तरह भागने के लिए मुझे माफ कर दो, वाणी।' मैंने मन-ही-मन कहा, 'तुम नही जानती तुम्हे खो देने का खयाल कितना तकलीफ-देह है, कितना दम घोटनेवाला है। लेकिन तुमने जो आँखे मुझे बख्शी है, दूसरे के दुख-दर्द को महसूस करने की जो शक्ति प्रदान की है, यह उसी का तगादा था कि मैं यों भाग आऊँ। लेकिन मै तुम्हे विश्वास दिलाता हूँ, तुम्हारी उन बड़ी-बड़ी आँखों की याद, जिन्होंने मेरी आत्मा को आँखें दी हैं, 'देव-वाणी' के आदर्श पर चलने की प्रेरणा दी है, जीवन भर मेरा पथ उजेला रखेगी।

"अरे वे संगीत जी आ रहे है।"

अचानक मै चौका। इक्का पोगाँवा के पुल पर से गुजर रहा था। लबालब भरी नहर, खेतियों को जीवनदान देनेवाला जीता जागता लोहू (अजीब बात है कि उनका नाम पानी था) अपने किनारों मे लिये चली जा रही थी। किनारे पर कतार बाँधे बच्चे खडे थे। शायद भट्टे की ओर से मार्च करते हुए मुझसे पहले यहाँ आ पहुँचे थे। तभी निगाहें उस छोटी सी बीमार-बीमार लडकी पर जम गयी, जिसका मुख एकदम श्वेत था, बडी-बडी पनियारी आँखें फैल गयी थी और जिसने मुझे देखते ही दोनों हाथ जोडकर मस्तक पर रख लिये थे। एक गहरी, लम्बी साँस मेरे हृदय की गहराइयों में से

निकल गयी, लेकिन मेरे अपने दोनों हाथ मस्तक पर चले गये और ताँगा पुल पार कर गया।

सामने पोगाँवा के घरों के पीछे सूरज निकल आया था। किरणों के तीर आकाश के अँधेरे को भेद रहे थे और सुबह का नूर जैसे अँधियारे में चारों ओर अपना प्रकाश भर रहा था।